संस्कृति साहित्य और संस्थाएँ

आधुनिक सन्दर्भ में

डा॰ माधुरी दुबे

आधुनिक संदर्भ में संस्कृति, साहित्य और संस्थाएँ

लेखिका

डा० माधुरी दुबे

प्राध्यापिका, राजस्थान विश्वविद्यालय

प्रकाशक :

आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६

१९६६

प्रकाशक : आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली–६
शाखा : धामाणी मार्केट – जयपुर

मूल्य ५ रुपया

मुद्रक :
फ्रैण्ड्स प्रिन्टर्स, जौहरी बाज़ार, जयपुर।

समर्पण

डा० सत्येन्द्र

और

डा० सरनामसिंह को

जो मुझे लिखने के लिये प्रेरित करते रहते हैं।

माधुरी

दृष्टिकोण

प्रत्येक देश का अपना साहित्य अपनी संस्कृति होती है—इन्हीं से देश विशेष की उपलब्धियों का मूल्यांकन होता है। यद्यपि संस्कृति और साहित्य व्यापक रूप में देशकाल और सीमाओं में आबद्ध नहीं रहते तथापि संस्कृति और साहित्य अपने जातीय रूप में देश की राज-नीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों और विचार-धाराओं से प्रभावित होते हैं। जातीय भावों और विचारों की छाप किसी न किसी रूप में साहित्य और संस्कृति पर पड़ती है लेकिन आज जब अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क से देशकाल की परिधि टूट गई है तब संस्कृति का युगीन रूप भी अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। कोई भाव और कोई भी विचार किसी भी देश से प्रारम्भ हो समस्त विश्व में प्रचलित हो जाता है। ऐसे अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में चिंतकों और साहित्यकारों का दायित्व बढ़ गया है। हमें सभी पहलुओं से समर्थ बनने के लिये संघर्ष करना है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के कारण आज साहित्य को राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को आत्मसात करके चलना है! तभी वह विश्व साहित्य की समकक्षता में टिक सकता है। अत: हमें इस बात का प्रयास करना है कि एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का चुनाव कर अपने देश के अनुरूप बना कर उनका प्रयोग करें दूसरी ओर अपनी संस्कृति और अपने साहित्य को इतना समृद्ध बनायें कि हमारी भाषा और हमारे साहित्य की समृद्धि पर किसी को प्रश्न चिन्ह लगाने का साहस ही न हो। सांस्कृतिक पुनर्निर्माण हो, भाषा गत स्वातन्त्र्य मिले और हम मानसिक दासता से मुक्ति का प्रवर्तन कर सकें।

यह स्थिति 'अस्तित्ववादी' और 'क्षणवादी' साहित्य से प्राप्त नहीं हो सकती। यह तभी हो सकती है जब हम सम्पूर्ण चेतना और

दृष्टिकोण

प्रत्येक देश का अपना साहित्य अपनी संस्कृति होती है—इन्हीं से देश विशेष की उपलब्धियों का मूल्यांकन होता है। यद्यपि संस्कृति और साहित्य व्यापक रूप में देशकाल और सीमाओं में आबद्ध नहीं रहते तथापि संस्कृति और साहित्य अपने जातीय रूप में देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों और विचारधाराओं से प्रभावित होते हैं। जातीय भावों और विचारों की छाप किसी न किसी रूप में साहित्य और संस्कृति पर पड़ती है लेकिन आज जब अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क से देशकाल की परिधि टूट गई है तब संस्कृति का युगीन रूप भी अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। कोई भाव और कोई भी विचार किसी भी देश से प्रारम्भ हो समस्त विश्व में प्रचलित हो जाता है। ऐसे अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में चिंतकों और साहित्यकारों का दायित्व बढ़ गया है। हमें सभी पहलुओं से समर्थ बनने के लिये संघर्ष करना है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के कारण आज साहित्य को राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को आत्मसात करके चलना है! तभी वह विश्व साहित्य की समकक्षता में टिक सकता है। अत: हमें इस बात का प्रयास करना है कि एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का चुनाव कर अपने देश के अनुरूप बना कर उनका प्रयोग करें दूसरी ओर अपनी संस्कृति और अपने साहित्य को इतना समृद्ध बनायें कि हमारी भाषा और हमारे साहित्य की समृद्धि पर किसी को प्रश्न चिन्ह लगाने का साहस ही न हो। सांस्कृतिक पुनर्निर्माण हो, भाषा गत स्वातन्त्र्य मिले और हम मानसिक दासता से मुक्ति का प्रवर्तन कर सकें।

यह स्थिति 'अस्तित्ववादी' और 'क्षणवादी' साहित्य से प्राप्त नहीं हो सकती। यह तभी हो सकती है जब हम सम्पूर्ण चेतना और

शक्ति के साथ ऐसा साहित्य सृजन करें जो राष्ट्र और विश्व की प्रवृत्तियों के अनुरूप, विशाल जीवन के आन्तरिक और बाह्य सम्बन्धों के वैविध्य-पूर्ण चित्र प्रतिबिम्बित करने वाला हो, उसमें कलात्मक सौन्दर्य, अर्थ-गाम्भीर्य और उदात्त मानवतावादी भावनाओं की गूंज हो तथा राष्ट्र-वासियों को प्रेरणा, स्फूर्ति और विवेकमयी अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सके। यह तभी संभव हैं जब देश की जनता के मस्तिष्क को ज्ञान सम्पन्न बनाने के लिये शिक्षण संस्थाएँ, उनसे सम्बद्ध साहित्यिक संस्थाएँ और स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाली संस्थाएँ बदलते हुए युग धर्म या युग बोध को पहचानें, उस चेतना के प्रेरणात्मक प्रभावों को आत्मसात करें तथा साहित्य और संस्कृति को उन्नत और विकासशील बनायें।

आज भारत जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की कल्याणकारी भावनाओं से सुखी हुआ है वहाँ निराशा के गर्त में डुबा देने वाली भावनाओं से आक्रांत भी; लेकिन महान् भारत देश की अपनी सुदृढ़ परम्पराएं हैं–ये सदा संकट की घड़ी में भारत को बचाती रही हैं। समन्वयशीलता और विशालता की भावनाओं ने उसकी संस्कृति और साहित्य को सदा अक्षुण्ण रखा है। आज फिर परम्परा से विच्छिन्न होने की, उसे अस्वीकृत करने की चर्चायें हो रही हैं तो संस्थाओं का कर्तव्य है कि वर्तमान समय में 'आधुनिकता' से शुभ नूतन परम्पराओं को पहचान कर ग्रहण करें और जन साधारण तक पहुँचाएँ।

हमारा देश परतन्त्र था तब से विभिन्न संस्थाएँ देश की प्रगति में योग देती रही हैं और अब भी सामार्थ्य अनुसार कार्य कर रही हैं उन्हीं संस्थाओं के १९५४ तक के सांस्कृतिक और साहित्यिक कार्यक्रम का गवेषणात्मक विवरण भी मैंने प्रस्तुत किया है। इन क्रियाशील संस्थाओं ने साहित्य प्रचार, हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, पुस्तकमाला प्रकाशन, पुरस्कार व्यवस्था, इतिहास लेखन, पुरातत्त्व संबंधी खोज और साहित्य निर्माण द्वारा भारतीय संस्कृति और साहित्य के श्रेष्ठतम रूप को

विश्व के समक्ष रखा है इनके अतिरिक्त भी कुछ संस्थाएं हैं जो १९५४ के बाद अस्तित्व में आई हैं लेकिन हमारा लक्ष्य यहाँ प्रतिनिधि संस्थाओं को ही प्रस्तुत करना था लेकिन इन संस्थाओं को भी समय के अनुसार नये कार्यक्रम अपनाने चाहियें। क्योंकि इनका अब तक का कार्य हमारे देश की विशाल साहित्य राशि से केवल अंशमात्र सामने ला पाया है।

दूसरी बात है इस सार्वभौमिकता के युग में विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध संस्थाएँ स्थापित होनी चाहियें जो इस दिशा में ठोस कार्यक्रम निर्धारित कर नव-साहित्य का सृजन करायें जो न तो अन्धानुकरण मात्र हो और न अन्तर्राष्ट्रीय धर्म से पिछड़ा हुआ हो, जो विश्व चेतना और राष्ट्र चेतना में समन्विति उपस्थित कर सके। इस दिशा में दिल्ली और लखनऊ विश्वविद्यालयों ने अच्छा कार्य किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय से तो नवीन और प्राचीन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करने वाला साहित्य प्रकाशित हो रहा है। प्रयाग और काशी में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ है। मैं उस दिन की कल्पना में हूं जब देश के प्रत्येक विश्वविद्यालय इस प्रकार का कार्यक्रम बनायेंगे। अपने इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्रथम भाग में मैंने आधुनिकता और वर्तमान संदर्भ का स्पष्टीकरण किया है। वर्तमान संदर्भ में भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता पर प्रकाश डाला है। साहित्य और संस्थाओं के कार्यक्रम को स्पष्ट किया है। दूसरे भाग में देश की प्रमुख छः संस्थाओं की १९५४ तक की सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधि का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

आशा है "आधुनिक संदर्भ में संस्कृति, साहित्य और संस्थाओं" की इस निष्पक्ष विवेचना से नवीन साहित्यकार सहयोग करेंगे।

—लेखिका

विषय सूची

पहला भाग –

आधुनिक संदर्भ में संस्कृति और साहित्य –

दूसरा भाग –

संस्थाएँ –

——

आधुनिक संदर्भ में संस्कृति और साहित्य

प्रथम भाग

: १ :

आधुनिकता अर्थ और आज का संदर्भ

आधुनिकता—एक शब्द, भिन्न अर्थ :

आधुनिक का सामान्य अर्थ काल सापेक्ष है—जो कुछ समसामयिक है, काल प्रतिमान है, नवीन है, वह आधुनिक है। काल के महारथ पर आरूढ़ यह आधुनिकता प्रत्येक युग में नवीन रूप बदलती रूढ़ि, बंधन, क्रंदन और युग स्पन्दन सबको पीछे छोड़ती उद्दाम वेग से आगे बढ़ती रही है। कल जो वर्तमान था वह आज अतीत बन गया है और आज जो आधुनिक है शाश्वत सत्य जान पड़ता है वह कल अतीत बन जायेगा। इस प्रकार काल का महारथ विभिन्न आयामों को पीछे छोड़ता आगे बढ़ता रहता है। जीवन शक्ति की वेगमती धारा जड़ता को तोड़ती, विकारों को ध्वस्त करती निर्बाध गति से आगे बढ़ती रहती है। जब जीवन में जीर्णता, विकार और गतिरोध दिखाई देते हैं तो कुछ समय के लिये समाज विशेष, देश विशेष भले ही रुक जाये अन्ततः उसे आगे बढना है, नवीन और सुन्दर की ओर ! इसीलिये कवि गुरु रवीन्द्र ने कहा था "जगत स्रोते भेसे चल, ये येथा आछ भाई"[1] स्वच्छन्द प्रवाह और सहज गति ही जीवन का, विश्व का स्वाभाविक धर्म है। इस

१ "जो जहां हो, वहीं से जगत के स्रोत में वह चलो।"

प्रकार प्रत्येक युग में जीर्ण पुरातन को नष्ट-भ्रष्ट कर आगे बढ़ने वाले समय का सामयिक रूप अपने पूर्ववर्ती युग की सापेक्षता में आधुनिक और नवीन अवश्य होता है। उस काल-अवधि को हम आधुनिक और उस युग की प्रसारित चेतना को 'आधुनिक बोध' तो कह सकते हैं; लेकिन वह संस्कृति और साहित्य का साध्य है न और धर्म ही। साहित्य और संस्कृति का साध्य है मनुष्यता। मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। प्रत्येक नवीन सांस्कृतिक और साहित्यक परिवर्तन अपने पूर्व के सांस्कृतिक और साहित्यक रूप से नये होते हैं। बौद्ध धर्म आज प्राचीन धर्म है लेकिन किसी समय में वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड और आडम्बरों से उत्पन्न सामाजिक और धार्मिक जड़ता को तोड़ने के प्रयत्न में एक सुधारवाद के रूप में अविर्भूत हुआ था और निश्चय ही नूतन था। विहारों और चेत्यों जैसी संस्थाओं के माध्यम से बहुत प्रचार हुआ फिर बौद्ध धर्म की शाखाएँ बनीं। कालक्रम में उनमें भी विकार आया विशेषत: वज्-यानियों इत्यादि शाखाओं में प्रचलित विकृतियों की प्रतिक्रिया एवं समय बोध से भक्ति आन्दोलन समस्त भारत में छा गया विशेषत: कबीर का संतमत। और उसने अपने समय से बहुत आगे के निर्देश दिये। इसी तरह उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यक जड़ता को तोड़कर परतन्त्र देश की आतमा की छटपटाहट को भारतेन्दु ने वाणी दी, तो यह वेदना नवीन मुक्त जीवन के लिये अकुला-हट ही तो थी।

"आवहु सब मिलकर रोवहु भाई
भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

भारतेन्दु की इस आधुनिकता का संबंध नये जीवन दर्शन से भी था और समसामयिक परिवेश के प्रभाव की प्रतिक्रिया से भी। राज-नीतिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी शोषण, सामाजिक क्षेत्र में रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की अमानुषिकता, धर्म क्षेत्र में ढोंग, कर्मकाण्ड और ऊँची

जाति की स्वार्थपरता और साहित्य के क्षेत्र में रीतिकालीन जड़ता के विरोध से संबद्ध चेतना (विशेष भौगोलिक स्थिति में) उनके माध्यम से संचालित हुई थी। यही कारण है कि भारतेन्दु ने जो नूतन चेतना का बीज रोपा, अखिल भारतीय कांग्रेस ने उस नवांकुर का पालन-पोषण किया। गांधीजी और उनसे प्रेरित साहित्यकारों ने उसे राजनीति से लेकर धर्म, समाज, परिवार और व्यक्ति तक प्रसारित कर दिया। फिर दोनों तरह की प्रतिक्रियाएँ हुईं एक ओर यह चेतना देश, जाति, धर्म समाज और परतन्त्रता के मुक्ति जाल को काटने की प्रेरणा देती रही, मार्क्स इत्यादि पाश्चात्य विचारकों से प्रेरणा ग्रहण करती रही दूसरी ओर पश्चिम के प्रकाश की, प्रभाव की, चमकदमक और नई धारणाओं ने अधकचरे मस्तिष्क को सकीर्ण से संकीर्णतर बनाया। इसी व्यथा से व्याकुल हो रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—

"इस अभागे देश से, हे नाथ मंगलमय
करो तुम दूर सब भव जाल ओछे,

× × ×

यह सुचिर अपमान मानव दर्प का,
हतगर्व मर्यादा जनित धिक्कार
लज्जा राशि बृहदाकार—
कर दो चूर्ण ठोकर मार

दो अवसर कि शुभ प्रत्यूष बेला में उठाये सिर,
ग्रहण कर सके निज निश्वास मुक्त वयार में
लख सके यह निस्सीम परम व्योम का आलोक
दृप्त अशोक।"[1]

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादकर्ता—हजारी प्रसाद द्विवेदी।

उन्होंने भीतर और बाहर की दासत्व श्रृंखला तोड़ने का आह्वान किया और ऐसे समाज विधान और संस्कृति की कल्पना की जिसमें मनुष्य, मनुष्य को समझे, सहज प्यार दे और विश्वभर में इस मनुजत्व की प्रतिष्ठा करे।

देश की संस्कृति और साहित्य को युगानुकूल आवरण देने के लिये उन्होंने चिरनूतन और चिर नवीन का आह्वान भी किया और नई पीढ़ी को ललकारा।

"ओ तरुण, अपरिपक्व, चिर नवीन, प्रमत्त, मृतप्राय में जीवन फूँक दे।

सुबह की रक्तिम रोशनी की मदिरा पीकर वे
जो कुछ कहना चाहते हैं, कहने दे!
उनके सब तर्कों को विफल करते हुए;
अपने प्राणों को उल्लसित कर तू नाच!

× × ×

बंधनों की देवी क्या सदा चिर-स्थाई रहेगी?
ओ प्रचण्ड! द्वार को तोड़कर खोल दे।

× × ×

जीर्ण पुरातन शास्त्रों में से उपदेश ढूँढना बन्द कर दे।
आ, ओ बन्धन मुक्त, चिर नवीन जीर्ण, कमजोर, म्लान,
सब को उतार फेंकते हुए, जीवन को अनन्त धारा में बहा दे"[१]

हिन्दी साहित्य में भी प्रेमचन्द की दृष्टि उन कुरीतियों, रुढ़ियों बंधनों और विकृतियों की ओर गई जो मानवता को खंड खंड करने

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बलाका, चिर नूतन से।

वाली हैं ।[1] जयशंकर प्रसाद का साहित्य इसी आकांक्षा पूर्ति की साधना है । इतना ही नहीं इनसे प्रेरित हो साहित्यकारों ने देशकाल की दु:खजनक परिस्थितियों के विरुद्ध आन्दोलन-सा छेड़ दिया । यदि ये साहित्यकार वर्तमान साहित्यकारों की तरह निराश होते, संसार से अलग, संकटग्रस्त और कटे-कटे अनुभव करते, अस्तित्व संकट में समझते तो क्या स्वतन्त्र हो पाते ? कभी नहीं । लेकिन गांधी और उनके सहयोगियों ने शस्त्रों से गुरुत्तर मानव के मनोबल को समझा और उसी

१. प्रेमचद, कुछ विचार, पृष्ठ १४

(क) "साहित्यकार या कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है ।..........अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छंदता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती । इसलिये वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है । वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर देना चाहता है जिससे दुनिया जीने और मरने के लिये इससे अच्छा स्थान हो जाय । यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है ।"

(ख) "एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बंधन में पकड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यों न ऐसे सामान इकट्ठे किये जायँ कि वह गुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाय ?"

(ग) "हमें एक ऐसे संघठन को सर्वांगपूर्ण बनाना है जहाँ समानता केवल नैतिक बंधनों पर आश्रित न रह कर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है ।"

के सहारे जीवन में उनकी साधना फलीभूत हुई। अंग्रेज़ों का जो तेज़ विकीर्ण हुआ वह बुझने लगा। काल उनके रास्ते से भी निकल गया। राजछत्र छूट गया और युग-युगान्तर से मुक्ति की अभिलाषी जनता नाना पथों से नाना दलों में भावनात्मक स्तर पर एक हो देश की पतवार थामने के लिये प्रस्तुत हो गई ! सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नवेशों पर एक बार फिर 'स्वराज्य' के लिये साधना हुई—सब कर्मरत हुए। देश के युवक भूमि प्रेम, कर्मनिष्ठा और मानवोचित उदारता लेकर आगे बढ़े। इनमें से ही सर्वश्रेष्ठ और अनोखे थे नेहरू। जिन्होंने राष्ट्र का निर्माण करते हुए 'युगबोध' का अनुभव कर भारत को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का अधिकारी बनाया।

सन् १९४७ में भारतवर्ष का राजनीतिक स्वातन्त्र्य देश और विश्व के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। विश्व साम्राज्यवाद की बहुत बड़ी कड़ी टूट कर अलग हुई। साहित्य तो क्या देश और विश्व के जीवन में बहुत बड़ा मोड़ आया। नेहरू जैसे नेता ने ऐशिया, अफ्रीका और विश्व के अन्य परतन्त्र देशों को स्वतन्त्रता के आस्वादन की प्रेरणा दी। एक बार फिर विश्व नेतृत्व की बाज़ी भारत के हाथ लगी। उस समय तक विश्व दो महायुद्धों के दौर से गुज़र चुका था। युद्ध की विकृतियों और कुपरिणामों को भुक्त-भोगी तो समझ ही चुके थे अन्य देशों ने भी उसे अनुभव किया। निशस्त्रीकरण के लिये शिखर सम्मेलन बुलाये गये। नेहरू ने पंचशील के सिद्धान्त विश्व के सामने रखे और युद्ध के आतंक से बचने की, सैनिक गुटों से अलग रहने की राह सुझाई। फिर वे अपने देश के पुर्ननिमाण में लगे और इसबात की चेष्टा की कि हमें आर्थिक उन्नति के लिये पाश्चात्य देशों का मुँह न जोहना पड़े। इसके लिये उन्होंने पंचवर्षीय योजनाएँ बनाईं और समाजवाद और विश्व शान्ति के सार्थक सत्य को अनुभव किया। बाद में अन्य देशों ने भी उसे अपनाया। इस प्रकार नेहरू तक देश में आधुनिक दृष्टि-

परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में स्वीकृत हो, कालानुरूप परिस्थितियों, प्रभावों और विचारधाराओं से प्रेरणा ग्रहण करके आगे बढ़ती रही है जिसमें रूढ़ियों के त्याग और नूतन के आकर्षण की चाह ही प्रबल थी।

नूतन की इस चाह से प्रेरित 'युग-संस्कृति' या 'सामयिक-बोध' मनुष्य के कल्याण से संबद्ध होकर ही महत्त्व पाता है। विभिन्न युगों में मनुष्य को कष्ट और पीड़ा के जाल से मुक्त कर मनुष्यत्व के उच्च से उच्चतम स्वरूप को प्रतिष्ठित करने के प्रयास में ही विश्व के विभिन्न देश विभिन्न समय के साँस्कृतिक आयामों को पार करते हुए आगे बढ़े हैं। जब मानव और इतिहास एक आयाम को पार कर आगे बढ़ जाता है तब पूर्ववर्ती आयाम प्राचीन बन जाते हैं तब उन्हें आधुनिक कहना सार्थक नहीं रह जाता।

'समसामयिकता', 'समय बोध' या 'युग संस्कृति' के संबंध में एक बात विचारणीय है वह है नूतन अथवा आधुनिक का स्वरूप स्पष्टीकरण। प्रश्न यह है कि लेखक की प्रथम प्रतिबद्धता जिस युग संस्कृति के प्रति होती है उसे कैसे पहचाना जाये। उसके लिये अनिवार्य है कि उसमें अनुभव की सच्चाई और अद्वितीयता हो। यह तभी होती है जब लेखक या चिंतक उन सभी दबावों का और विषमताओं का बारीकी से निरीक्षण करे जो नूतन भावबोध की सापेक्षता के अभाव से उत्पन्न हुई है। जो रूढ़ियाँ जीवन की स्वच्छन्द गति को रोक रही हैं वे क्या हैं ? उनकी व्याख्या करने के लिये साहित्यकार और चिंतक ने स्थिति की दृढ़ता के लिये परंपरा की अविच्छिन्नता को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कहाँ तक स्वीकार किया है उदाहरण के लिये धर्म और समाज से विकार दूर करने के लिये दयानन्द ने वेदों का आधार ग्रहण किया था। और वेदों की युगानुरूप व्याख्या की थी। दयानन्द ही ने ही नहीं वरन् युग के अन्य चिंतकों ने भी 'युग बोध' को आत्मसात कर नव

जागरण का नूतन का आह्वान किया था। राजा राम मोहन राय का ब्रह्म समाज, रानाडे का प्रार्थना समाज और ऐनीबेसन्ट की थियोसीफिकल सोसायटी इत्यादि मनुष्य को प्राचीन जड़ता से मुक्त कर सुखी बनाने के लिये अस्तित्व में आये। रामकथा विभिन्न युगों में 'युग बोध' और अनुभूति की सच्चाई के अनुरूप रूप रख कर आई।

'आधुनिकता' के संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि समकालीनता को फैशन से कैसे अलग करें। क्योंकि कभी-कभी कुछ रचनाएँ कुछ समय के लिये इतनी लोकप्रिय होती हैं कि शाश्वत मूल्य की रचनाएँ उनके समक्ष दब जाती हैं। उसका कारण है कुछ रचनाएँ ऐसी होती हैं कि खूब उत्कंठा, उत्तेजना और जिज्ञासा उत्पन्न कर सकती हैं जैसे बच्चन की मधुशाला एक समय में सबका मन मुग्ध किये रही। और आज उसे प्रतिनिधि रचनाओं में याद नहीं किया जाता और वर्तमान काल में तो और भी कठिनाई है, निम्न से निम्न स्तर की रचना को मित्र समुदाय द्वारा विज्ञापनबाज़ी से इतना उठाया जाता है कि अच्छी अच्छी प्रतिभाएँ विज्ञापनबाज़ी के अभाव में मात खा जाती हैं। हाँ, एक कसौटी अवश्य है—हम कह सकते हैं कि समकालीनता के साथ उसमें "शाश्वत मूल्य" भी हों तो रचना स्थायी रहेगी। लेकिन इसके लिये भी कुछ मानदण्ड चाहिये क्योंकि ये शाश्वत मूल्य युग संस्कृति के रंग में रंग कर और युगानुरूप होकर ही हमारे सामने आ सकते हैं फिर उन्हें कैसे पहचाना जाये? इसके लिये यह आवश्यक पहचान है कि हम देखें रचनाकार समसामयिक फ़ैशन से ऊपर उठकर नई संवेदनाओं को अपने अनुभव में कहाँ तक बाँध सका है क्योंकि व्यक्तित्व का प्रभाव और अनुभव की निजता भावपक्ष को युगानुकूल बनाती है साथ ही शिल्प विन्यास को भी नूतनता प्रदान करती है। इस प्रकार जब हम साहित्य और संस्कृति के संदर्भ में आधुनिक और नूतन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस नूतन से है जो मनुष्य को जड़ता तोड़कर जीवन का

नया अर्थ समझने की प्रेरणा देता है, महत्ता की ओर अग्रसर करता है और बंधनों से मुक्त कर सम्पूर्णता प्रदान करता है ।

समसामयिकता अथवा युग-संस्कृति के संबंध में एक अन्य प्रमुख तत्त्व है कि जिस प्रकार हम देश की ऐतिहासिकता के प्रसंग से आधुनिकता को मापते हैं उसी प्रकार उसे विश्व इतिहास विकास के प्रसंग में भी देखना चाहिये । अर्थात् सारा विश्व उन्नति की ओर अग्रसर है । अब इस विकास क्रम में विभिन्न देश आगे पीछे हो सकते हैं । इस प्रकार एक ही समय में कुछ देश आधुनिक हो सकते हैं कुछ नहीं । एक ही देश में कुछ समाज आधुनिक हो सकते हैं कुछ नहीं । हमारे ही देश में आदिवासी जो शहर और सभ्यता की दुनिया से दूर हैं वे अब भी आधुनिक नहीं हैं । क्योंकि नवचेतना का प्रकाश उन तक नहीं पहुँचता वे प्राचीन जीवन दृष्टि को अपनायें हैं नवीन जीवन दृष्टि से अपरिचित हैं ।

: २ :

आधुनिकता और विशिष्ट जीवन दृष्टि

नवीन जीवन दृष्टि :

आधुनिकता का यह अर्थ विशिष्ट जीवन पद्धति से संबंध रखता है, हमारी परम्परागत कुछ मान्यताएं चली आ रही थीं लेकिन जब से अंग्रेज़ों का आगमन हुआ हम पश्चिम के संपर्क में आये, हमारी समस्त जीवन दृष्टि बदल गई है। मध्यकाल में हम अपनी भौगोलिक सीमाओं में रहते थे। इतिहास की चेतना का विकास उस समय नहीं हुआ था जो कुछ पूर्वजों ने कह दिया उसे अंधश्रद्धा से पत्थर की लकीर मानते आये। लेकिन अंग्रेज़ों के आगमन से नई शिक्षा पद्धति, पश्चिमी साहित्य से परिचय, नये धार्मिक आन्दोलन, वैज्ञानिक आविष्कार, समाचार पत्र, अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन इत्यादि ने भारतवासियों की दृष्टि ही बदल दी। भावुकता, कल्पना और आदर्श के स्थान पर बौद्धिकता, व्यावहारिकता और यथार्थता का प्राधान्य, परंपरा से न चिपके रहकर अपने युग से सचेतन संबंध, एकतन्त्रशाही के स्थान पर राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र का प्राधान्य और धर्म की अंधश्रृद्धा के स्थान पर जीवन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रमुख हुआ। समाज के साथ व्यक्ति भी प्रबल हुआ। यही कारण है कि अधिकांश विद्वान् भारतेन्दु–युग से आधुनिकता का आविर्भाव मानते हैं इसलिये डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने

भारतेन्दु काल पर लिखे गये अपने प्रबन्ध को "आधुनिक हिन्दी साहित्य" नाम दिया । डा० श्री कृष्णलाल ने द्विवेदीकाल को आधुनिक माना और अपने प्रबन्ध का नाम "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास रखा । अतः स्पष्ट है कि यह दृष्टि-कोण काल सापेक्ष नहीं है—यह एक विशिष्ट जीवन पद्धति से संबंध रखता है । जब से यह जीवन पद्धति प्रारम्भ हुई तभी से आधुनिककाल का आगमन माना गया । एक समय में भी आधुनिकता सर्वव्यापी नहीं दिखाई देती । एक ही काल में रह कर कोई मध्यकालीन जीवन दृष्टि से अपनाये रह सकता है कोई काल सापेक्षता से बहुत आगे की बात सोचता है । उदाहरण के लिये आज के दिन जमींदार किसान संघर्ष की कोई चर्चा करे तो वह इतना आधुनिक नहीं होगा जितना कि पूंजीवादी और मजदूरों के संघर्ष की चर्चा करने वाला और इनसे भी आगे होगा व्यक्ति को लेकर (अस्तित्ववाद) वैज्ञानिक नियतिवाद की चर्चा करने वाला । मैथिलीशरण गुप्त की तुलना में पंत अधिक आधुनिक हैं और कवि पंत की तुलना में धर्मवीर भारती और अज्ञेय अधिक आधुनिक हैं । इस प्रकार विचारधारा से संयुक्त होकर आधुनिक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है । आज अन्तर्राष्ट्रीय युग में आधुनिक नये अर्थ में अभिषिक्त हुआ है ।

: ३ :

आधुनिकता और वर्तमान संदर्भ

अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ :

वर्तमान-युग अनेक दृष्टियों से अपने पूर्ववर्तीयुगों से भिन्न है। प्रचलित अर्थ में आधुनिक भाव बोध, यूरोप में रिनेसों (१५वीं शदी) से प्रारम्भ हुआ और भारतवर्ष में उन्नीसवीं शदी से आया। ऐतिहासिक अनुभव से तो हम वर्तमान बोध की व्याख्या में भी मुक्त नहीं हो सकते।[1] लेकिन एक अन्तर अवश्य है आज हम उसे विश्व की सापेक्षता में देखते हैं। मशीनी सभ्यता और ज्ञान विज्ञान ने विश्व के सब देशों को एक सूत्र में बाँध दिया है। यह युग विज्ञान का, हाइड्रोजन और अणुबम का युग है। विज्ञान ने तो चाँद तक मनुष्य की पहुँच संभव कर दी है। इसके वरदान ने जहाँ हमें अनेक सुविधायें दी हैं, एक सूत्र में गूंथा है वहाँ अभिशाप भी दिया है वह है युद्ध के खतरे का विनाश का!

---

१. डा० नगेन्द्र आलोचना, अंक ३४ जुलाई १९६५
"आधुनिक और वर्तमान युग ऐतिहासिक युग ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया है जिनमें ऐतिहासिक अनुभव गुंथा है—यह ऐतिहासिक अनुभव और ऐतिहासिक विकास एक जीवन्त इकाई है जिसे हम वर्तमान के बिन्दु पर आकर बोधगम्य करते हैं।"

राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और विचारधाराओं से प्रभावित हो रही हैं। आज साहित्य, सभ्यता और संस्कृति राष्ट्रीय परिधि तोड़कर सार्वभौमिकता ग्रहण कर रहे हैं। देश की सांस्कृतिक मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लग गये हैं। स्पेंगलर तो यहां तक विश्वास करते हैं कि पेड़, पौध और मनुष्य के अनुसार संस्कृति भी बढ़ती है और बढ़कर एक दिन विनाश को प्राप्त करती है। और फिर उसका पर्यावसान सभ्यता में होता है। श्री राम धारीसिंह दिनकर ने इसीलिये कहा—

"स्पेंगलर की भविष्यवाणियाँ सबको अप्रिय लगी थीं और सब ने चाहा था कि वे भविष्यवाणियाँ भूठी हो जायें। किन्तु वे भविष्यवाणियाँ भूठी होती नहीं दिखाई देती हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, स्पेंगलर की बात सत्य होती जा रही है और चिंतक मन ही मन अनुभव कर रहे हैं कि हम सचमुच उतार के सोपान पर हैं।"

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और वैयक्तिक सभी दृष्टियों से पाश्चात्य देशों में आतककारी परिवर्तन आया है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क और जीवन परिधि के विस्तार ने इसे सारे विश्व में संक्रामक रोग की तरह फैला दिया है।

राजनीति, विज्ञान का विकास और युद्ध :

आज इस अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में राजनीति के क्षेत्र में हलचल मची हुई है। समस्त विश्व तीन गुटों में बँट गया है : दो विरोधी विचारधाराओं के राष्ट्र शक्ति सम्पन्न हो गये हैं। एक तो अमेरिका इत्यादि का सैनिक गुट है दूसरा साम्यवादियों का जिसका नेतृत्व रूस कर रहा है। तीसरे तटस्थ गुट में भारत जैसे देश हैं। विश्व के कोने-कोने में युद्ध और आणविक अस्त्रों का आंतक है। किसी समय भी सभ्यता, संस्कृति और मानव जाति उनकी ज्वाला में जल कर नष्ट हो

सकती है। प्रथम दो महायुद्धों के परिणाम कुछ कम भयंकर नहीं थे। फिर आज तो नई शक्ति, नये अस्त्र-शस्त्र नये ढंग की युद्ध पद्धति शक्तिशाली देशों के पास है। वियतनाम का उदाहरण हमारे सामने है। यदि युद्ध को सिद्धान्त विरुद्ध बताकर वे लोग कर्म क्षेत्र से अलग हट जाते हैं, तो स्वतन्त्रता तो खोयेंगे ही साथ ही एक बार फिर साम्राज्यवाद के विकास का दृश्य उपस्थित होगा और फिर सारे विश्व को युद्ध के क्षेत्र में उतरना पड़ेगा। चीन की भारत पर चढ़ाई और हिन्द-पाकिस्तानी युद्ध इस विभीषिका की भूमिकाएं ही तो थीं! हमारा देश इस स्थिति में जो कुछ भोग चुका है उसकी पुनरावृत्ति नहीं चाहता। वह उन लाचार देशों में से हैं जो युद्ध करना नहीं चाहता पर करना पड़ता है। प्रत्येक बार युद्ध उसके सामने अनिवार्य बनकर आया है। इस भोगी हुई संकटग्रस्त स्थिति और देश की निर्धनता ने निराशा, भय, अनिश्चितता और नियतिवाद को बढ़ावा दिया है। श्री दिनकर ने युद्ध और राष्ट्रीयता को "एक ही तसवीर के दो पहलू" माना है। आज से पहले युद्ध पर इस दृष्टि से सोचने की आवश्यकता ही नहीं हुई थी। बाल्मीकि, वीरगाथा के सभी लेखक तुलसी और विदेशी साहित्यकार होमर शेक्सपियर इत्यादि सभी ने युद्ध का वर्णन किया है—लेकिन गौरवपूर्ण कर्म के रूप में जो बुराई पर अच्छाई को विजयी बनाने के लिये आवश्यक था।

युद्ध क्षेत्र में मरने पर सद्गति प्राप्त होने की कल्पना भी हमारे देश में की जाती थी। सबसे बड़ी बात है कि जब बीसवीं सदी से पहले युद्ध छिड़ते थे तो युद्ध में संलग्न देशों को ही उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता था; लेकिन आज विश्व साम्राज्यवाद के कारण सारा विश्व युद्ध की लपेट में आ सकता है। राजनीतिक विचारधारा के अनुकूल देशों के सैनिक गुट बन गये हैं और जो देश तटस्थता की नीति अपनाये हैं उन्हें भी युद्ध में घसीटा जाता है। क्योंकि तटस्थ देश न लड़ना चाहे, दूसरे देश तो लड़ना चाहते हैं। फलस्वरूप सभी देशों में युद्ध का आतंक है

और सभी देशों के साहित्यकारों ने युद्ध की भर्त्सना प्रारम्भ की है।

साहित्यकार और युद्ध :

वर्तमान साहित्यकारों के सामने प्रश्न है कि साहित्य द्वारा संस्कृति और मानवता को किस प्रकार बचाया जाये। १९१० में टालस्टाय ने युद्ध को अनिवार्य बुराई बताया था और साहित्यकारों को उसके विरुद्ध लड़ने के लिये ललकारा था।

"टालस्टाय ने अपने समय के नीत्से, माल्थुस और वीजमान जैसे दार्शनिक और विचारकों के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया जो बढ़ती हुई जन संख्या को कम करने के लिये दुर्बल और पुरुषार्थहीन, बीमार और असमर्थ व्यक्तियों की तादाद घटाने के लिये और समर्थ पौरुषवान की विजय के लिये युद्ध को समाज के विकास का एक मंगलकारी प्राकृतिक नियम मानते थे या सिद्ध करते थे कि युद्ध अनिवार्य है।"[१]

यथार्थ तो यह है कि युद्ध सदा से ही बुराई रहा है और आज वह विश्व-विनाशकारी बन गया है। इसकी वर्तमान साहित्यकारों पर चार तरह की प्रतिक्रियाएं हुई हैं। पश्चिम के कुछ लेखकों ने स्वयं मोर्चों पर जाकर युद्ध की विभीषिकाओं को देखा और उसका वर्णन कर जन मानस में उसके प्रति घृणा का प्रचार किया है। इस विषमता की स्थिति में कुछ लेखकों में अनास्था और अरक्षा का भाव भी जाग्रत हो गया है। इन लेखकों ने उसे ही साहित्य में व्यक्त किया है। ये दूसरे प्रकार के साहित्यकार हैं। इसके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के साहित्यकार हैं जो स्वतन्त्रता से पहले की चेतना से अनुप्रणित थे जैसे प्रसाद, रवीन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा इत्यादि। इनके साहित्य में भी युद्ध की अमानुषिकता की ओर संकेत किया गया था, लेकिन निराशा का स्वर इनके साहित्य में कभी नहीं उभरा। चौथे प्रकार के वे साहित्यकार हैं जो द्वितीय महायुद्ध

---

१. संपादक, ले. शिवदानसिंह चौहान, आलोचना

के समय युद्ध लड़े भी और युद्ध की कविता भी की। स्टॉवाट की कविता में इसी बेबसी की बड़ी मार्मिक झलक मिलती हैं—

"मैं इंग्लेण्ड के लिये जलता हूँ
जैसे वह खुद जल रहा है।
मैं इस उम्मीद में जलता हूँ

× × ×

कि जब शान्ति का समय आये,
लोग हमारी कुर्बानी से मुनाफ़ाखोरी न करें।

—स्टावार्ट (अनुवादकर्ता श्री दिनकर)[१]

एक और उदाहरण है कि श्री जोफर्स का जो कर्म क्षेत्र से हटने की गलत प्रेरणा भी नहीं देता और युद्ध की बुराई को भी प्रस्तुत करता है।

"चूंकि कि तुम सीधे सादे आदमी हो
दयालु और रोमांटिक जीव हो,
तुमने नेताओं का भरोसा कर लिया,

× × ×

तुम्हें दूसरी बार भी धोखा खाना पड़ा।
अनावश्वक युद्ध में लड़ना पाप है।
बहादुरी पाप है, विजय भी पाप है
लेकिन हारना उससे भी बड़ा पाप है।

(जेफर्स अनुवाद कर्ता दिनकर)[२]

---

१. अनुवादक श्री रामधारीसिंह दिनकर, लेखक स्टावार्ट, साप्ताहिक हिन्दुस्तान

२. श्री रामधारीसिंह दिनकर, लेखक जेफर्स, साप्ताहिक हिन्दुस्तान

इसके अतिरिक्त सभी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् निराशा से परिचालित असंतुलित मस्तिष्क की भावनाएँ व्यक्त न कर कर्मठता को बढ़ावा देने वाली भावनाओं को ही व्यक्त करते रहे हैं। बर्नर्डशा, बारबूज, रोमारोल्यां गोर्की, शोलोखोव, इत्यादि सभी ने युद्ध के विरुद्ध लिखा था। लेकिन इनके साहित्य में कर्मठता का अभाव नहीं है। हमारे यहाँ का (स्वातन्त्र्य संग्राम का) इतिहास साक्षी है कि हमारे सभी समकालीन साहित्यकारों ने स्वातन्त्र्य संग्राम को प्रोत्साहित करने वाला साहित्य रचा। इसी संघर्ष ने रवीन्द्र के हृदय को मथा था। तभी उन्होंने "एक्ला चलो" की घोषणा की थी।

"यदि सबाइ थाके मुख फिराये,
सबाई करे भय
तबे प्राण खुले,
ओ तुइ मुख फुटे तोर मनेर कथा,
एक्ला चलो रे ॥
× × ×
ओ तुइ रक्त माखा चरण तले
एक्ला दलो रे ॥

स्वतन्त्रता पूर्व के साहित्यकारों में प्रेमचन्द शान्ति और मानवता के पक्षपाती थे फिर भी उन्होंने स्वातन्त्र्य संग्राम को प्रोत्साहित करने वाला साहित्य सृजा। वर्तमान लेखक निराशा का ढोंग रचकर कर्मठता से मुँह चुरा रहा है। आज चारण पद्धति के युद्ध गीतों से भी काम नहीं चल सकता। इसलिये "आधुनिक भाव बोध" से राजनीतिक प्रेरणा को सही रूप में समझ कर समाज के सामने रखना चाहिये जिससे कर्तव्य को दीप्ति और मानवता को प्रोत्साहन मिले।

जहाँ तक हमारे देश का प्रश्न है। वह है कि स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक क्षेत्र में भावात्मक एकता कैसे बनाई रखी

जाये ? सत्ता हथियाने के लिये विभिन्न पार्टियों में हर बार खूब आपाधापी होती है। लेकिन अशिक्षित देश में प्रजातन्त्र की जो कठिनाइयाँ होती हैं वह सब हमारे सामने हैं। हम सैनिक दृष्टि से भी इतने सम्पन्न नहीं हैं क्योंकि हमारे देश की पूंजी विकास कार्यों में लग रही है। शीत युद्ध का भय दिन ब दिन बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से अरक्षा और भय की भावनाएँ चारों ओर फैल रही हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने का, आशावाद का, जनता में चेतना फूँकने का प्रश्न फिर साहित्यकारों के समक्ष है।

सामाजिक क्रांति :

सामाजिक क्षेत्र में भी विज्ञान ने तथा अन्य विद्याओं ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। विश्व के सभी देश इस आकांक्षा से कार्यरत हैं कि मनुष्य का अधिक से अधिक कल्याण हो, उसे सुविधाएँ मिलें। इसीलिये नित नये वैज्ञानिक विकास को बढ़ावा दिया जा रहा है। मनुष्य को सभी प्रकार की शारीरिक पीड़ा और मानसिक वेदना से मुक्त कर स्वस्थ बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। मनोविज्ञान दर्शन, अर्थशास्त्र इत्यादि अन्य विषय और विद्याएँ भी इस दिशा में गतिशील हैं। क्योंकि आज अच्छी तरह समझ लिया गया है कि विश्व के एक कोने में त्राहि-त्राहि मची हो तो शेष अन्य राष्ट्र शान्ति का उपभोग करें यह इस अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में सम्भव नहीं है। फलतः एक देश के सुख-दुख उसे तो आन्दोलित करते ही हैं अन्य देशों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। उसका सबसे बड़ा कारण है—विश्व पूँजीवाद। इस पर निर्भर देशों की समस्याएँ लगभग एक-सी हैं। विशेषतः उन देशों की जो कुछ वर्ष पूर्व ही साम्राज्यवाद के चंगुल से छूटे हैं और विकास करना चाहते हैं। विकासशील देशों में औद्योगिक विकास और भौतिक समृद्धि के चरम बिन्दु पर पहुँच गई है लेकिन भारत तथा उसके जैसे

साम्राज्यवाद से छुटकारा पाये हुए राष्ट्र विकास के प्रारम्भिक दौर से गुज़र रहे हैं। भारत में औद्योगिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति–अभी प्रारम्भ ही हुई है। उसके सामने भी वे सब समस्याएँ आ रही हैं जो पश्चिमी देशों के सामने मशीनों का आविष्कार होने पर, औद्योगिक उन्नति के समय बहुत पहले आई थीं। इन मशीनों का आविष्कार मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाने के लिये किया था। आज वह मशीनी सभ्यता उस पर हावी हो गई। नगर ही संस्कृति के केन्द्र बन गये हैं। संस्कृति-स्पेंगलर के शब्दों में 'सभ्यता'–के संचालक पूंजीपति कलाकार और चिंतक नगरों से ही संबंध बनाये हैं। गाँव और शहरों के बीच में अब भी गहरी खाई है। मशीन और तकनीकी विद्या के विकास से उपलब्धि खूब हुई है लेकिन अधिकतर नगरों को। विभिन्न कारणों से इसका पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है। निर्धन देशों को इन साधनों के पाने के लिये धन चाहिये जिसके लिये उन्हें सम्पन्न राष्ट्रों का मुँह जोहना पड़ता है। व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय ठेकेदारी बढ़ गई है। युद्ध को भी बढ़ावा मिला है बढ़ते हुए अर्थ–वैषम्य ने पेशे के लिये विभिन्न जातियों को इधर-उधर फैलने को बाध्य किया है; धीरे–धीरे परम्परागत समाज और परिवार टूट रहे हैं। मार्क्स ने फ्रांस की क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण कर इसीलिये अर्थ को समाज का व्यवस्थापक ठहराया और समाजवाद का स्वप्न देखा था। अर्थ के असमान बँटवारे से वर्ग वैषम्य बढ़ा है ! पहले सत्ता सामन्तों के हाथ में थी अब पूँजीपतियों के और मिल मालिकों के। यहाँ तक कि हमारे देश में धन के बल पर पुराने राजा–महाराजा प्रजातन्त्र शासन पद्धति में स्थान पा गये हैं। पूँजीपति भी दोनों तरह से ही सत्ता प्राप्त किये हुए हैं। इतना ही नहीं पहले एक समाज में कुछ जमींदार, महाजन इत्यादि गरीबों का शोषण करते थे अब सम्पन्न राष्ट्र महाजन बन बैठे हैं और निर्धन राष्ट्र उनके मुखापेक्षी हैं। भारत भी उन निर्धन राष्ट्रों में से है जो विदेशों से ऋण

लेकर अपना आर्थिक ढाँचा जर्जर कर रहा है। इस अव्यवस्थित अर्थ व्यवस्था ने निर्धनों को और भी निर्धन बना दिया है। इस बढ़ते हुए अर्थ वैषम्य में सबसे अधिक पिसा है मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग। प्रत्येक परिवर्तन और उसके प्रभावों का केन्द्र भी यही वर्ग है। समाज में घूसखोरी, महँगाई, अरक्षा और भय बढ़ रहा है। परिवार और समाज का स्थायित्व भंग हो गया है। इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप मार्क्स की प्रेरणा और प्रभाव से समानाधिकारों की मांग की जा रही है। भारत में १९४७ से राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होकर भी आथिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से मनुष्य बंधनों में जकड़ा रहा। आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति ने जाति, जन्मसिद्ध आभिजात्य, समाज राज-शाही इत्यादि की दासता को ध्वस्त कर व्यक्ति को स्वच्छन्द कर दिया है।

धर्म :

विश्व में ईसाई मत के बंधन पहले ही ढीले पड़ चुके थे। हमारे देश को भी स्वतन्त्रता के बाद धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया गया। धार्मिक रूढ़ियों, कर्मकाण्डों और दबावों को अस्वीकार करने का साहस व्यक्ति में उत्पन्न हुआ। मार्क्स के प्रभाव से ईश्वर महत्त्वहीन हो गया था और नीत्से ने एक कदम आगे बढ़कर प्रचलित किया कि "ईश्वर मर गया है।" विश्व में प्रचलित नास्तिकता भारत में भी पहुंची है। धर्म के क्षेत्र में दो तरह की प्रतिक्रियाएँ दिखाई दीं एक ओर मनुष्य धर्म संबंधी संकीर्णताओं को छोड़ विश्वधर्म की ओर अग्रसर हुआ तो दूसरी ओर घोर नास्तिकता का प्रादुर्भाव हुआ, इस प्रकार ईश्वर गौण और मनुष्य प्रमुख होता गया। राजनीतिक, सामाजिक, और धार्मिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप धर्म निरपेक्ष, वर्ग वैषम्यहीन समाज का स्वप्न देखा जाने लगा। जिसमें रूढ़ियों की जरूरत न हो।

ऊंच-नीच, जाति-पांति और वर्णों धर्म का भेद न हो। जिसमें मनुष्य को उसकी मनुष्यता से ही महत्त्व मिले। इस प्रकार मनुष्यता की प्रतिष्ठा से व्यक्ति प्रमुख हुआ और समाज गौण।

व्यक्तिवाद इसी नवजाग्रत चेतना का परिणाम है जिसने बंधन और मर्यादाओं को अस्वीकार कर दिया है। यह व्यक्तिवाद नये मूल्यों की स्थापना के प्रयत्न और सामाजिक कृत्रिम व्यवस्थाओं, अवस्थाओं, समकालीन दुरावस्थाओं, झूठी नैतिक मर्यादाओं एवं धार्मिक मान्यताओं के विरोध की चेतन प्रतिक्रिया के रूप में आया।

यह भी सामाजिक क्रान्ति का ही प्रतिक्रियात्मक परिणाम है। इसके जन्म और विकास के मूल में दर्शन, समाज, धर्म और राजनीति की अभिनव व्याख्याएँ करने वाली उन समस्त विद्याओं का प्रभाव है जो ज्ञात-अज्ञात रूप से मनुष्य को स्वाधीनता की ओर प्रेरित कर रही हैं। जीव शास्त्र और मनोविज्ञान ने मनुष्य के कार्यों और इच्छाओं और प्रेरणाओं की नई-नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं और उनकी परिस्थिति, परिवार और वातावरण के अनुरूप व्याख्या करने लगे। दर्शन एक ओर व्यक्ति को नैतिक सदाचार से प्रभावित वर्ग और समाज के स्वस्थ जीवन के विकास का माध्यम बना तो दूसरी ओर वैज्ञानिक नियतिवाद की व्याख्याएँ भी उसके माध्यम से हुईं। डारविन ने विकासवाद की प्रतिष्ठा कर उथल–पुथल मचा ही दी थी। उनसे प्रेरणा पा स्पेन्सर ने जगत के सम्पूर्ण व्यापारों में विकास परम्परा की प्रतिष्ठा की। मनुष्य की महत्ता बढ़ाई। मनुष्य के सुख-दुख उसके पुण्य-पापों का फल नहीं माने गये। इस प्रकार विज्ञान, मनोविज्ञान, जीव शास्त्र और मानव शास्त्र इत्यादि की व्याख्याओं ने हमारी सभी परम्पराओं, ईश्वर, धर्म और नैतिकता इत्यादि पर प्रश्न चिह्न लगाये। फलस्वरूप मनुष्य अपनी सभी बौद्धिक ऐतिहासिक परम्पराओं से विच्छिन्न हो गया और दूसरी

ओर राजनीति, समाज परिवार धर्म सबसे अलग होता गया। वह अकेला अनुभव करने लगा। उसकी कुंठाओं और विकृतियों के कारण समाज और उसकी परिस्थितियों में ढूँढे गये। एक ओर मनोविश्लेषण पद्धति से उसको स्वस्थ करने की राह सोची गई दूसरी ओर अस्तित्ववाद की विचारधारा के लिये अवकाश उपस्थित हुआ।

अस्तित्ववाद

आज जिस सर्व प्रमुख विचारधारा की चर्चा विश्व में है—वह है अस्तित्ववाद। प्रारम्भ में अस्तित्ववाद नये जीवन मूल्यों की स्थापना की प्रेरणा के लिये पदार्थ जगत् के परम्परागत तर्क सम्मत दार्शनिक मतवादों के विरुद्ध एक विद्रोह रूप में प्रतिपादित किया गया था। जो जीवन संघर्ष से उत्पन्न निराशा और मानव मुक्ति के प्रयास में आवभूंत हुआ। मोनियर ने अस्तित्ववाद की परिभाषा इस प्रकार की है कि "वह विचार तथा पदार्थ के दर्शनों के अतिचार के विरुद्ध मानव दर्शन की प्रतिक्रिया है।" इसके प्रतिष्ठाता जर्मन दार्शनिक हरसेल, हेडेगर और डेनेशि, विचारक कीर्कगार्ड हैं। जोस्पर्स मार्सेल पास्काल और नीत्से इत्यादि इसके प्रेरक हैं। लेकिन इसके प्रचारक जॉपाल सात्र, कामूअ (१९११) और सिमेन द व्यूबोई हैं। सात्र ने दो प्रकार के अस्तित्व-वादी माने हैं। उसने कहा है कि "अस्तित्ववादी एक वे जो ईसाई हैं" जैसे जैस्पर्स और गेब्रील मार्शेल; दूसरे हैं नास्तिक अस्तित्ववादी जिनकी श्रेणी में "हाइडेगर और फिर फ्रांसिसी अस्तित्ववादियों को तथा अपने आपको मानता हूँ।"अस्तित्ववाद के संबंध में दोनों प्रकार के अस्तित्ववादी इस बात पर एक मत हैं कि:—

"अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती है, अथवा, यदि आप चाहें तो यह कहलें कि अस्तित्व पहले और उसके बाद अन्तस्तत्व, कि हमारा आरम्भ

बिन्दु विषयिगतत्व ही है।"[1]

ये अस्तित्ववादी जीवन में बंधनों से मुक्ति और स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं—"मनुष्य का एक मानवीय स्वभाव होता है। यह मानवीय स्वभाव—जो कि मानव की अवधारणा है—सभी मनुष्यों में पाया जाता है। प्रत्येक मनुष्य एक अवधारणा के रूप में मनुष्य का एक विशेष उदाहरण हुआ। कान्त के इस सामान्यत्व का परिणाम यह है कि वन्य मानव तथा बुर्जुआ सभी उसी परिभाषा में आबद्ध हैं तथा सब में वे ही मूल गुण पाये जाते हैं; अतएव यहाँ मनुष्य का सार ऐतिहासिक अस्तित्व से जो हम प्रकृति में देखते हैं, पूर्ववर्ती है।"[2] अर्थात् सर्वप्रथम जीवन के रंगमंच पर मानव का अवतरण होता है उसके बाद अपनी परिभाषा करता है।

यह अस्तित्ववाद का प्रथम सिद्धान्त है। वर्तमान जीवन इतना जटिल है इसके अनुसार मनुष्य चाहते हुए भी स्वतन्त्र हो नहीं पाता—अतः उसकी यह चाह विफल रहती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य परिस्थितियों और "नियति के हाथ शतरंज का मोहरा" बन जाता है अर्थात् मनुष्य अपने आपको जो बना पाता है उसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं। मनुष्य पीड़ा से छुटकारा नहीं पा सकता क्योंकि पीड़ा कर्म का अंग बनकर आती है वह असहाय, दुर्बल, एकाकी और उदास अनुभव करता है क्योंकि वह उस स्तर पर है जहां वह केवल मनुष्य है और कर्म के अतिरिक्त कोई वास्तविकता नहीं। यदि ईश्वर नहीं है तब वह प्रवृत्ति परिचालित होता है और वह एकाकी हो जाता है क्योंकि उसे कोई ऐसा संबल नहीं मिलता जिसका वह

---

१. प्रधान सम्पादक डा० नगेन्द्र-पाश्चात्य काव्य शास्त्र, सिद्धान्त और वाद, अस्तित्ववाद पृष्ठ ३६३

२. प्रधान सं० डा० नगेन्द्र, पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त और वाद, अस्तित्व-वाद पृष्ठ ३६४

आश्रय ले। जो उसे आशा बँधाए ! वह आत्मद्रोही हो जाता है। यदि उसके लिये जीवन निरर्थक और अनास्थापूर्ण हो जाता है। उसके व्यवहार में अनिश्चितता आ जाती है ! वह क्रूरता और विवेकहीनता का शिकार हो जाता है ! फलस्वरूप संस्कृति से विच्छिन्न तर्क को त्याग, ईश्वर में अविश्वास कर समाज का तिरस्कार करने लगता है। अस्वस्थ मूल्यों का समर्थन करता है। उसकी दृष्टि में जीवन संकटपूर्ण और घृणा उत्पन्न करने वाला है। वह घोर व्यक्तिवादी और अहंकारी हो जाता है। अस्तित्ववाद में सात्र ने व्यक्तिवाद का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा कि "मनुष्य के लिये मानवीय व्यक्ति निष्ठावाद का अतिक्रमण करना असंभव है।" यह अस्तित्ववाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस प्रकार की अहंकारपूर्ण चेतना–आत्मचेतनात्मक स्वतन्त्रता व्यक्ति के अस्तित्व की शून्यतत्त्व की सृष्टि करती है। उसका यह निराकरण स्वानुभूति में लय होता है और वह अर्थहीन जीवन को वासना का पर्याय मानने लगता है। मृत्यु की अनिवार्यता उसे सदा सशंकित बनाये रखती है। उस क्षण को ही अतुलनीय समझ महत्त्व देता है। कामूअ के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है कि:—

"अस्तित्व की स्थिति तत्त्व से पूर्व है। यहाँ तत्त्व से भाव मनुष्य की मौलिक प्रकृति से है और अस्तित्व का अर्थ उसका कर्म समूह है, जिससे उसकी जागतिक स्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार अस्तित्ववादी चिन्तन के धरातल पर मनुष्य जीवन के जीवित सन्दर्भ में सोचता है।"[1]

जर्मन दार्शनिकों ने ईश्वर से संयुक्त करके इसकी व्याख्या की थी। सात्र के अनुसार जैस्पर्स और मार्सल ने ईश्वर से संयुक्त कर इसकी परिभाषा की थी। लेकिन विश्व में फैला हुआ अस्तित्ववाद वह नहीं हैं। वह तो सात्र का व्यक्तिवादी अस्तित्ववादी दर्शन है।

१. प्र.सं डा० धीरेन्द्र वर्मा, साहित्यकोश, अस्तिववाद

सात्र ने कहा "अस्तित्ववाद वास्तविकता की सुसंबद्ध स्थिति के सारे निष्कर्ष ग्रहण करने के प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" इस वर्ग के चिंतक निरीश्वरवादी हैं। इसी विचारधारा की राजनीतिक प्रसंग में व्याख्या अल्बर्ट कामुअ ने की है। जहाँ तक फ्रांस, जर्मनी और इसी प्रकार के कुछ देशों का प्रश्न है इन देशों में यह विचारधारा प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रिया स्वरूप में आयी। संस्कृति अथवा युग सभ्यता के विकास के साथ जब अनास्था, भय और निरर्थकता की भावनाएँ वहाँ पनपने लगीं तो मनुष्य घुटन और दबावों से कुंठाओं का पुतला बन गया है।

अस्तित्ववाद और फ्रायड

फ्रायड ने मनोविश्लेषण सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य को वासना प्रेरित, दुर्बल इच्छाशक्ति हीन मनोग्रन्थियों से परिचालित सिद्ध किया। लेकिन साथ ही उन्होंने अनेक मनोवैज्ञानिक सुझावों के माध्यम से यह भी सिद्ध किया था कि ये विकृतियाँ अकारण नहीं हैं इनका उत्तरदायी समाज है। अन्तश्चेतना में पलती हुई इन ग्रन्थियों का विस्फोट कर मनुष्य को स्वस्थ बनाया जा सकता है। यदि इनका उदात्तीकरण हो जाये तो मनुष्य उच्चकोटि का सुधारक,साहित्यकार, कलाकार और सामाजिक भी हो सकता है; लेकिन सात्र ऐसे विचारक हैं जिन्होंने अपने इस अस्तित्ववाद में आशावाद के सब द्वार रुद्ध कर दिये हैं।

अस्तित्ववाद और भारतीय नियतिवाद

भारतीय दर्शन में भी नियति को प्रमुख स्थान मिला है। जीवन को भी क्षणभंगुर माना गया है लेकिन नियति कहीं निराशा के स्वर लेकर नहीं आई वरन् मनुष्य को निष्काम कर्म करने की निष्ठा और

प्रेरणा देती है। आकांक्षाओं के दुस्तर बँधन से युक्त करती है—यही कारण है हमारे प्राचीन विचारकों और साधकों और साहित्यकारों ने कठिन से कठिन घड़ी में आशावाद का स्वर नहीं छोड़ा है लेकिन सात्र के इस अस्तित्व में ना तर्क है न कर्मठता। यद्यपि सात्र ने बड़े बल के साथ कहा है—"अस्तित्ववाद मनुष्य को कर्म से विमुख नहीं करता।"

"यह मनुष्य को नैराश्य में डुबाने का प्रयास कतई नहीं किन्तु यदि कोई मसीही धर्मावलम्बियों के समान अविश्वास कि प्रत्येक प्रवृत्ति को नैराश्य कहता है तो इसका अर्थ है कि इस शब्द का अपने मूल अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा रहा······वह तो बल्कि यह घोषणा करता है कि यदि ईश्वर की सत्ता है भी तो भी इससे कुछ अन्तर नहीं होता···इस अर्थ में अस्तित्ववाद आशावादी हैं, कर्म का सिद्धान्त है और मसीही धर्मावलम्बियों के लिये अपनी और हमारी निराशा में अन्तर न करना। और हमें निराशावादी कहना साफ बेईमानी है।[१] लेकिन यथार्थ में निराशा और घुटन का परिणाम प्रवृति परिचालित कर्म ही होता है जिसका उत्तरदायी मनुष्य नहीं।

इसका कारण है कि यूरोप में प्रथम महायुद्ध के समय समाज में दैन्य, अतृप्ति, अस्थैर्य अनास्था, आशंका, भय और अविश्वास का आधिक्य था। ऐसी मानसिक स्थिति में सात्र ने उनमें आशावाद जगाने के स्थान पर भ्रमित ही किया है। हो सकता है उनका उद्देश्य मानव के इस करुण स्थिति से सहानुभूति दिखाना रहा हो लेकिन प्रभाव विपरीत ही रहा है। जहाँ तक निरीश्वरता का प्रश्न है अन्य कई दार्शनिक सम्प्रदाय ऐसे विचार प्रकट कर चुके थे।

ईश्वर में अविश्वास तो मार्क्सवादियों ने भी प्रकट किया था लेकिन उनकी आस्था समाज में, मनुष्य में शेष तो थी और आस्था

---

१. प्रधान सं० डॉ० नगेन्द्र, पश्चात्य काव्य शास्त्र सिद्धान्त और वाद पृष्ठ ३७२

किसी में भी हो मनुष्य के जीवन को संबल दिये रहती है अस्तित्ववाद इस आस्था से वंचित है ।

अस्तित्ववाद और निरीश्वरवादी सम्प्रदाय

निरीश्वरवादी तो बुद्ध भी थे ।[1] बुद्ध के समान ही सात्र ने ईश्वर की समस्या पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा था । "अस्तित्ववाद में इतनी नास्तिकता नहीं कि वह यह सिद्ध करने में ही अपने को खपा दे कि ईश्वर की सत्ता नहीं है । ईश्वर की सत्ता का प्रश्न हमारा नहीं है" । इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के न होने की धारणा का संकेत किया है । दुःख-पीड़ा को बुद्ध ने भी सत्य माना था । जन्म-दुःख, जरा-व्याधि और सभी की अनिवार्यता उन्होंने अनुभव की थी । लेकिन इससे बचने के लिये सम्यक् दृष्टि संकल्प, वचन, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति, समाधि के द्वारा जीवन को व्यवस्थित करने की राह भी तो सुझाई थी और आशा प्रेरित कर्मठता से विमुख होने से बचाया था । लेकिन अस्तित्ववादी मनुष्य को पीड़ा और दुःख की अनिवार्यता की अनुभूति के परिणामस्वरूप वासना का पुतला सिद्ध करने में लगे हैं । और आधुनिक युग की जटिलताओं में विपरीत लक्ष्यों और परिस्थितियों की टकराहट से जो अवसाद और असफलता मानसिक स्थिति बनती है, उग्रता जाग्रत होती है उसे ही शाश्वत सत्य के रूप में मान रहे हैं ।

अस्तित्ववाद का मृत्यु-बोध तथा मृत्यु संबंधी भारतीय धारणा

एक बात और है "मृत्यु की अनिवार्यता का बोध"—यह भी कोई नई बात नहीं—शताब्दियों से हमारे दार्शनिक जीवन की क्षण-भंगुरता और मृत्यु की अनिवार्यता सिद्ध करते आ रहे हैं लेकिन इन

१. श्री दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३५

विद्वानों ने मृत्यु को कर्मक्षेत्र से हटाने वाले भयकारी सत्य के रूप में नहीं देखा था वरन् उसे जीवन के चरम सुन्दर सत्य के रूप में स्वीकार किया था उसे भय और अनास्था का कारण नहीं समझा था। जयशंकर प्रसाद के शब्दों में इसका सार्थक स्पष्टीकरण इस प्रकार हुआ है :—

"जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आंखों से देखना, जीवन रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है।"[1]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी "मृत्यु-कोलाहल" कविता में मृत्यु को एक अनिवार्य सत्य के रूप में मानकर एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकारा है।

"—तथा उस नयी सृष्टि के तट पार की ओर बहते चले जाओ।
वेदना मुझे दिनरात मिलती है,
पाप को मैंने कई छद्मवेशों में देखा है
अशान्ति का जलावर्त्त जीवन धारा को सन्तप्त कर रहा है,
और मृत्यु लुकाछिपी का खेल खेलते सारे संसार को समाविष्ट कर रही है।
मैं तुझसे भयभीत नहीं हूँ, क्योंकि अपने जीवन की प्रत्येक घड़ी में मैंने तुम्हें विजित किया है।
मैं तुमसे अधिक वास्तविक हूँ—यही
आस्था लेकर मरूँगा।"[2]

सात्र के अस्तित्ववाद के विश्लेषण से यह बात तो सिद्ध हो जाती कि यह विचारधारा औद्योगिक समाज और मशीनी सभ्यता की

---

१. जयशंकरप्रसाद, स्कंदगुप्त, प्रथम अंक पृष्ठ ४३

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वलाका, मृत्यु का कोलाहल

करुणाजनक वास्तविकता है। लेकिन मनुष्य अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव कर अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित करने के लिये भयंकर नियतिवाद को भले ही अपना ले, स्वच्छन्द भोग विलास या नैतिक परम्परा का विरोध अवश्य करलें किन्तु ये तरीके निराशा के गर्त बचने के उपचार के रूप में कभी सिद्ध नहीं हो सकते। इससे अस्तित्व की क्षणिक अनुभूति भले ही मिल जाय स्थाई समाधान नहीं हो सकता, विशेषत: भारतवर्ष में। स्वयं सात्र के देश में एक आलोचक ने उसके साहित्य को "कब्रिस्तान का साहित्य" कहा है।[3] सात्र की साहित्यिक सामर्थ्य पर शंका प्रकट करने का तात्पर्य हमारा कभी नहीं है। वे युद्धों के कुपरिणाम की प्रतिक्रिया दिखाकर समाज को सामाजिक विघटन और मनुष्य की विकृति का अनुभव कराना चाहते थे वह उन्होंने बड़ी सबल, सजीव और चित्रात्मक शैली में किया। (उपन्यासों में) साथ ही व्यापक स्तर पर आधुनिक फ्रांस की मनोदशाओं और विकृतियों को चित्रित किया है। विकृति की इस तरह प्रतीति करना कि पाठक के मन में उसके प्रति रस उत्पन्न न होकर वितृष्णा उत्पन्न हो समर्थ शैली-कार ही कर सकता है—सात्र में यह सामर्थ्य है। प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में "जोला मो पासा और प्रूस्त की परम्परा में सात्र की कला ने एक नई कड़ी जोड़ी है।"[४] कुछ भी हो अस्तित्ववाद का विस्तृत विवेचन करने से इतना ही तात्पर्य है कि जिस अस्तित्ववाद को फैशन की तरह अपना लिया गया है वह हमारे देश पर लागू नहीं होता। जब हमारे देश की समस्याएं भिन्न हैं, हम नवनिर्माण के प्रयास में लगे हैं, तो सात्र का यह निराशावादी दृष्टिकोण ज्यों का त्यों न तो भारतीय समाज के लिये उपयोगी है और न व्यावहारिक जीवन दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। यह अस्तित्ववाद भारतीय साहित्य में तभी सार्थक हो

---

३. प्रकाशचन्द्र गुप्त, आलोचन पत्रिका, सात्र की कला

४. देखिये वही

सकता है जब सात्र के इस दार्शनिक लौकिकवाद का समुचित अध्ययन कर इसकी केवल उन्हीं बातों को अपनाया जाये जो भारतीय समाज पर भारतीयकरण करने के बाद लागू हो सकती है। जब तक इसका संबंध जीवन के नये मूल्यों से नहीं जुड़ जाता तब तक आधुनिकता के नाम पर इसे कितना ही ओढ़ा जाये ये सार्थक नहीं होगा।

क्षणवाद

अस्तित्ववाद से ही मिलती-जुलती विचारधारा है क्षण-वाद की, जो आज विश्व के स्तर पर लोकप्रिय हो रही है। इस विचारधारा के विश्वासी वर्तमान में जीते हैं और क्षणों की अनुभूतियों को ही सत्य मानते हैं। क्षणवादी चिन्तनधारा के अनुसार जीवन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य की प्रवृत्तियों का बाह्य संबधों के साथ सामञ्जस्य होता चलता है। क्षणवाद प्रभाववाद से प्रेरित है। प्रभाववादी काल-क्रम में से अनुभव के एक क्षण अनुभूत कर कला के माध्यम से उसे अमरता प्रदान करते हैं। रोजेटी ने इसीलिये कहा था—"उसके सोनेट ऐसे क्षण हैं जो शाश्वत हो चुके हैं।" प्रभाववादी जीवन सत्य को गतिशील मानते हैं, एक प्रक्रिया मानते हैं। ये अपनी कला को, सृष्टि को चिर गतिशीलता में एक क्षण की विभूति मानते हैं। प्रभावाद १८७५ से १९१० तक यूरोप में बहुत प्रचलित हुआ। हाउजर ने इसकी लोक-प्रियता को स्वीकारा है।

"प्रभाववाद वह शैली है जिसमें उस युग का चिन्तन और कला दोनों ही अभिव्यक्त हुए हैं। इस शती के अन्तिम दशकों का सारा दर्शन इसी पर निर्भर है। सापेक्षवाद, आत्मनिष्ठावाद, मनोविज्ञानवाद, इतिहासवाद, प्रतिव्यवस्थावाद, मनोजगत् के आणवीकरण का सिद्धान्त आदि सारे तत्त्व नीत्से, वर्गसां के सिद्धान्तों में अर्थक्रियावादियों में तथा जर्मनी के शास्त्रीय आदर्शवाद से इतर समस्त दार्शनिक विचारधाराओं में समान रूप से पाये जाते हैं।"

प्रअस्त्ववाद से प्रेरित क्षणवाद की विचारधारा भी "मशीनी सभ्यता से प्रेरित जीवनगत परिवर्तन का परिणाम है, जिसके कारण मनुष्य स्थायित्व में विश्वास खो बैठा है; उसे क्षण ही सत्य जान पड़ता है। अज्ञात-भय से सब कुछ क्षणभंगुर लगता है। अतः वह क्षण की अनुभूतियों को ही महत्त्वपूर्ण मानता है।

बुद्ध और यूनानी दार्शनिक हैराक्लितस दोनों ने ही क्षण की सत्यता को माना था लेकिन दोनों ही ने इसे परिवर्तनशीलता के अर्थ में स्वीकारा था। डॉ० छोटेलाल दीक्षित के कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है।

"दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन में सर्वप्रथम क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध दर्शन में क्षण की सत्यता परिवर्तनशीलता के अर्थ में स्वीकारी गई है। दो क्षणों में कोई वस्तु परिवर्तित हुए बिना नहीं रहती, अतएव सत्य क्षण ही है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक हैराक्लितस ने भी "तुम उसी नदी में दो बार पैर नहीं रख सकते, क्योंकि ताजा पानी हर वक्त तुम्हारे ऊपर से बहता रहता है" कहकर क्षण की सत्यता का प्रतिपादन किया था।"[१]

बुद्ध क्षणवाद में विश्वास करते थे लेकिन उन्होंने हिन्दुओं के जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को भी स्वीकार किया है? इस रूप में वे मानव जीवन को दुखमय मानते हैं। मनुष्म इसलिये जन्म ग्रहण करता है क्योंकि उसमें वासनाएँ शेष रहती हैं इन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य नाना कर्म करता है और कर्मों के अनुसार ही मर कर उत्तम या निकृष्ट योनि में जन्म लेता है। कर्मों के अनुसार संस्कार अर्जित करता है। ये संस्कार उसे पुनः जन्म लेने को विवश करते हैं। इस प्रकार संस्कारों की परम्परा और जन्म-मरण का क्रम चलता रहता है। इस

१. डा० छोटेलाल दीक्षित, नई कविता क्षणवाद के संदर्भ में

प्रकार वासना या संस्कार के रूप में क्षणों की परम्परा को स्वीकारा था।[1] यथार्थ तो यह है कि वर्तमान क्षण के साथ पूर्व क्षण का अस्तित्व किसी न किसी रूप में रहता है। मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स और हेनरी वर्गसां इत्यादि ने भी भूत और वर्तमान अनुभव के सहारे क्षणों की निरन्तरता को स्वीकार किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारी विचारधारा, चेतना, अनुभव और धारणाएँ आदि स्मृति के सहारे आगे बढ़ती हैं। अतः किसी वस्तु से सबंधित और सार्वजनिक विचार जीवन की क्षणिक अनुभूति नहीं हो सकते। जब साहित्य में हम क्षण-अनुभव/अभिव्यक्त भी करते हैं तो वे व्यापक अनुभूति का अंश बनकर निश्चित अनुभूतियों के रूप में साहित्य में स्थान प्राप्त करते हैं। सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के पश्चात् हम उन्हें प्राप्त करते हैं। सृष्टा की जीवन दृष्टि में केवल वर्तमान–जिसमें वह जीता है—की ही प्रेरणा नहीं रहती। वह अपनी समस्त जीवनगत अनुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में देखकर ही क्षण की अनुभूतियों को साहित्य में स्थान देता है। जिस अनिश्चय, अविश्वास, त्रास, शंका इत्यादि को थोड़े से साहित्यकार व्यक्त कर रहे हैं वही सब

---

१. श्री दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, दूसरा अध्याय पृष्ठ १३३ "बुद्ध देव ने हिन्दू धर्म के जन्मान्तरवाद को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उनका भी निश्चित मत है कि जीवन दुखी है और मनुष्य को यह दुख भोगने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य का जन्म इसलिये होता है कि उसके भीतर वासनाएं शेष हैं। इन वासनाओं के कारण मनुष्य नाना कर्मों में प्रवृत्त होता है और कर्मों के अनुसार ही, मर कर उत्तम या अधम योनि में जन्म लेता है और फिर उन जन्मों में वह जैसा काम करता है, जैसा संस्कार अर्जित करता है, वे संस्कार उसे नया जन्म ग्रहण करने को विवश करते हैं। इस प्रकार जन्म मरण का प्रवाह लगातार चलता है।"

कुछ नहीं है। आशा की किरण भयंकर से भयंकर परिस्थितियों में भी मनुष्य को जीने के लिये बाध्य करती रहती हैं। इसीलिये यह क्षणवाद भी तभी सार्थक होगा जब उसका संबंध निरन्तरता और व्यापक संवेद-नात्मक जीवन दृष्टि से जोड़ा जायेगा। तभी बुद्धि विवेकयुक्त समन्वित जीवन दृष्टि की स्थापना होगी जैसा कि बुद्ध ने किया था। आज के कुछ कृति कलाकार भी कर रहे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में आज के इस क्षणवाद के फैशन की गति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

"........बहुत से नये लेखक जीने वाले नहीं हैं।............सारी निराशा हवा हो जायगी। साहित्य "अंधेरे की चीख" कभी नहीं बना है कभी नहीं बनेगा। अच्छे अच्छे लोग आते रहते हैं और आयेंगे जिनमें जीवन के दृढ़-बद्ध मूल्यों के प्रति आस्था होगी। वे साहित्य को सही दिशा की ओर ले जायेंगे"[१] तात्पर्य स्पष्ट है कि आधुनिक जीवन में और कुछ साहित्यकारों के साहित्य में जो निराशा, विसंगति और एकाकीपन का भाव आया है वह टिकने वाला नहीं। स्वतन्त्रता पूर्व देश के साहित्यकारों ने जितनी भी विश्व प्रचलित विचारधारायें अपनाईं वे सब मानव कल्याण और मानव प्रतिष्ठा का साधन बनकर स्वीकृत हुईं। आज इन दो प्रमुख वादों (अस्तित्ववाद और क्षणवाद) को ही आधुनिकता और आधुनिक साहित्य का चरम लक्ष्य मानलें यह उचित नहीं। "आधुनिक बोध" में विश्व बोध के आधार पर जो निराशा, कुंठा और घुटन के स्वर उभरे हैं वे ही सब कुछ नहीं गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्य और उसके विविध रूपों में असंख्य उदाहरण गिनाये जा सकते हैं जो युगबोध के रंग में रंग उच्च मानवत्व और चेतन को प्रतिष्ठित करने वाला साहित्य प्रस्तुत कर रहे हैं। यों कहा जाये तो

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। धर्मयुग २३ अक्टूबर १९६६ पृष्ठ सं० ५३

उपयुक्त होगा कि साहित्यकारों के द्वारा आज दोनों प्रकार की विचार-धारा का साहित्य सृजित हो रहा है। निराशा और घुटन, त्रास और दुःख को अभिव्यक्त करने वाला, मानव को लघु प्रमाणित करने वाला और निखरी हुई मनुष्यता को चित्रित करने वाला, और उसे दुःखपूर्ण परिस्थितियों से त्राण दिलाने वाला भी। क्योंकि "आधुनिकता" का तात्पर्य मानवीयता विरोध और संस्कृति विरोध से नहीं है" आधुनिक काल में "आधुनिक बोध" में हम द्वन्द्वात्मक या संघर्ष की स्थिति देखते हैं एक और अन्तर्राष्ट्रीयता बढ़ी है नवीन समाज, धर्म,राजनीति, अर्थ और विचार-धाराएं सभी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित हैं। साहित्य और संस्कृति भी राष्ट्रीय परिधियों को तोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर रहे हैं, तो इसके विपरीत दूसरी ओर राष्ट्रीयता को भी उत्तेजना मिली है। सभी अपनी अपनी परिधि में अपने राष्ट्र को सुसंस्कृत और सम्पन्न देखना चाहते हैं, युद्ध से बचना और अपनी भूमि की रक्षा करना चाहते हैं। एक ओर युद्ध का भय बढ़ रहा है उसमें नित नये साज सामान सजाये जा रहे हैं तो दूसरी ओर निशस्त्रीकरण की बातें होती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था शान्ति से फैसले करने के लिये प्रतिष्ठित की जाती है। सभी राष्ट्र (हमारा भी) पुनर्निर्माण की चेष्टा में लगे हैं तो दूसरी ओर निराशा और भय का वातावरण भी फैल रहा है। औद्योगिक विकास हुआ है और गरीबी भी बढ़ी है। एक ओर बौद्धिक और धर्म-निरपेक्ष वर्ग वैषम्यहीन समाज का स्वप्न देखा जा रहा है तो दूसरी ओर घोर अहंकारी व्यक्तिवाद का आविर्भाव हो रहा है। ज्ञान विज्ञान ने दुख कष्ट, प्रकृति और विपत्तियों को पराजित करने की चेष्टा की है तो दूसरी ओर अस्तित्ववाद और क्षणवाद की दुहाई देने वाला साहित्य भी सृजित हो रहा है।

हमारे देश में भावात्मक एकता के स्वप्न भी संजोये जा रहे हैं और एक सूत्र में बांधने वाली भाषा न्यायोचित अधिकार भी नहीं पा

रही। राज्य सरकार देश विदेश में संस्कृति प्रचार के लिये सांस्कृतिक-मण्डल भेजती है तो दूसरी ओर नवयुवक संस्कृति और प्राचीन साहित्य से विच्छेद की बात करते हैं। बातें समाजवाद की होती हैं और प्रवृति सामन्तवाद की है जो पूंजीवाद का रूप रखकर आती है। अशिक्षित जनता में वही पुरानी मान्यताएं जड़ें जमाए हैं और नई पीढ़ी सभी परम्पराओं से मुक्त होना चाहती है। अतः समस्या सन्तुलन की है 'विश्व चेतना' और 'राष्ट्र बोध', मानव चिन्तन क्रम, इतिहास एवं संस्कृति और नव जीवन प्रणाली में, समाज और व्यक्ति में, राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय विचारधाराओं में, परम्परा और आधुनिकता में युग प्रवृत्ति और शाश्वत मूल्यों में और सबसे बढ़कर संवेदना और निर्णयात्मिका बुद्धि में। इस द्वन्द्वात्मक अथवा दुहरी स्थिति के कारण तनाव उत्पन्न हुआ है, जटिलता अवश्य उत्पन्न हो गई है लेकिन इस काल को साहित्य के उतार का युग कभी नहीं कहा जा सकता। इस बिखराव में ही समन्वय शीलता और महत्ता के स्वर उभर रहे हैं। आवश्यकता है उन्हें साहित्य में प्रतिष्ठित करने की। साहित्य की प्रेरणा उन्हें समाज और संस्कृति में भी प्रतिष्ठित कर देगी।

: ४ :
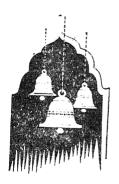
भारतीय संस्कृति की समन्वय शीलता और 'वर्तमान–युग'

वर्तमान युग में इतिहास के अन्य युगों से नितान्त भिन्न हैं— आधुनिकता और आधुनिक संदर्भों को विस्तार से जान लेने से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि आज हम जब संस्कृति और साहित्य का विश्लेषण करते हैं तो न केवल राष्ट्रीय वरन् अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंग को दृष्टि में रखना होता है, क्योंकि संस्कृति तो वह सुखद, आनन्दमय अखण्ड और अविभाज्य चेतना है जो देशकाल और परिस्थितियों से बाध्य नहीं। उसमें मानव की चेतना का इतिहास, जीवन का ऐश्वर्य सुरक्षित रहता है। विश्व संस्कृति इतनी व्यापक और विशाल है कि उसमें मनुष्य के परिमित परिवेश में सरलता से दर्शन नहीं हो सकते। मनुष्य उसका केवल आभास पाता है फिर क्या कारण है कि एक देश के जीवनगत और सांस्कृतिक मूल्य दूसरे देश की संस्कृति जीवन गत–मूल्यों से भिन्न रहे हैं और आज एकरूपता दृष्टिगत हो रही है इसका कारण यह है कि प्राचीन और मध्यकाल में सभी राष्ट्र अपनी-अपनी देशकाल की संकुचित परिधि में घिरे हुए थे। अपनी सभ्यता अथवा युग-संस्कृति का विकास राष्ट्रीय परिस्थितियों और प्रभावों के

अनुरूप करते थे इसलिये भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप अपने जीवन की गतिविधियों को ढालते हुए वे सांस्कृतिक निर्माण की साधना करते थे और संस्कृति सभ्यता अथवा युग-संस्कृति का आन्तरिक रूप है वह बाह्य रूप से नये–नये रूप रखती हुई भी अपने आन्तरिक स्वरूप को सुरक्षित रखे हुए थी। लेकिन आज जब रेडियो, टेलीविज़न, समाचारपत्र और सबसे बढ़कर हाइड्रोजन अणुबंम और रॉकेट-युग में मनुष्य जब चाँद तक पहुँच गया है और शीघ्र ही वहाँ उतरने में भी सफल होगा। देश–काल की सीमाएं समाप्त हो गई हैं। तब वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीयता जीवन का अनिवार्य धर्म बन गई है और सभ्यता एवं युग से संस्कृति के कारण जो बाहरी भिन्नताएँ आभासित होती थीं, वे भी समाप्तप्राय: हो गई हैं। सभ्यता या युग-संस्कृति ने सार्वभौमिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है। एक राष्ट्र की विचारधारा, जीवनगत परिवर्तन और सभ्यता की उपलब्धियों से दूसरे राष्ट्र भी लाभान्वित हो रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान, टेकनोलोजी, उद्योग की नवीन उन्नति, साहित्य एवं कला की विचारधाराएँ सार्वभौमिक हो गई हैं फलत: जो शाश्वत संस्कृति, चेतना और मान्यताएँ हमारे देश में चली आ रही थीं उन्हें पुरानेपन के नाम पर अस्वीकृत किया जा रहा है और जो कुछ नया है उसे ठीक से न्यायोचित ठहरा कर जीवन में प्रतिष्ठित अभी नहीं कर पाये हैं। मार्क्सवाद, मनोविज्ञान, विकासवाद, अस्तित्ववाद, प्रभाव-वाद और क्षणवाद जैसी अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं ने सारे विश्व में ही सभी दृष्टियों (आर्थिक और सामाजिक) से क्रान्ति उपस्थित कर दी है। व्यक्ति संबंधी विश्व के एक कोने से उठा हुआ प्रत्येक नवीन आन्दोलन, नई विचारधारा शीघ्रता से समस्त विश्व की रगों में उत्तेजना फूँकने में सफल है। इसलिये प्राचीन और नवीन की टकराहट और सांस्कृतिक समन्वयशीलता के अभाव में हमारे समाज की उदासी, निराशा और घुटन की मनोस्थिति हो गई है—

इस व्याप्त निराशा और घुटन को कैसे दूर किया जाये यह सामाजिक और सांस्कृतिक समस्या बन गई है। इसके लिये आज इस 'नव-चेतना' और अस्तित्ववाद के युग में भी अपनी भारतीय संस्कृति की समन्वय-शीलता पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। हमारी संस्कृति में क्या शाश्वत है और क्या सामयिक, क्या अन्तर्राष्ट्रीय है और क्या राष्ट्रीय—यह देखना हमारे लिये आज आवश्यक हो गया है। हमें उस अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व चेतना में से उसी को ग्रहण करना चाहिये, जो हमारे समाज के लिये कल्याणकारी है, जो दु:ख और निराशा से मुक्त कर आशा का संदेश दे सकता है। जो कुछ सार्वभौमिक बना हुआ है वह सबका सब ग्रहणीय हो ऐसी बात नहीं और न सब त्यागने ही योग्य है। अत: आवश्यकता संतुलित दृष्टि की, समन्वयात्मक और निर्णयात्मिक बुद्धि की जो हमें सामर्थ्य दे कि नवचेतना में क्या और किस रूप में ग्रहण करना है। क्योंकि हमें इस बात के लिये भी सतर्क रहना है कि कहीं अन्तर्राष्ट्रीयता की झोंक में हम राष्ट्रीय संस्कृति के उस अंश को न बिसारदें जिसका मूल्य स्थाई है। हमें पहचानना होगा कि जो कुछ नया है, उसमें क्या है जो हमें उन्नत बना सकता है और प्राचीन में क्या है जो हमारी नवीन अवधारणाओं को आधार दे सकता है तथा आधार किस रूप में दे सकता है। यदि ऐसा नहीं किया तो हम अपनी समस्त ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा से विच्छिन्न हो जायेंगे। कुछ थोड़े से विद्वानों को यह बात भले ही मान्य न हो लेकिन आज सभी मनीषी यह मानने लगे हैं कि अपनी पिछली परम्परा से संबंध बनाये बिना हम नव संस्कृति का प्रासाद नहीं खड़ा कर सकते। क्या कोई धरती पर पाँव टिकाये बिना खड़ा रह सकता है, या अधर में बीज रोप सकता है ? हमें भी ठोस भूमि चाहिये मानव प्रेम और जिगीषा की। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक विचार और वितर्क में एक स्थान पर कहा है—"समाज-वाद इन मूढ़ निर्वाक, दलित, अपमानित, हीन, निर्वीर्य और तेजहीन

पुरुष और स्त्रियों का ध्वंस कर देगा अवश्य विशेषण को, विशिष्यमान को नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जनसमूह से तेजोद्दिप्त जनसमूह का अवतार होगा?"[१]

यह तभी हो सकता है जब ऐसी संस्कृति पनपे जिसमें व्यक्ति विकृति और संशकता से मुक्त हो। क्योंकि जिस युग में हम रहते हैं उस युग की सभ्यता और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। ये तभी हो सकता है जब राजनीतिक सगठन पूर्ण हो, समाज-व्यवस्था सहज हो और अर्थ-व्यवस्था उन्नत हो और संतुलित हो। लेकिन इसके लिये केवल चीख-पुकार मचाने से कुछ नहीं हो सकता। संतुलन की आवश्यकता है व्यक्तिवाद और समाजवाद में, लौकिकता और आलौकिकता में, बुद्धिवाद और संवेदनात्मक दृष्टिकोण में। विघटन और विनाश की स्थिति आने से पहले अपनी स्थिति में हमें दुर्बलता को ढूंढना होगा, यह दुर्बलता अतिवादी, एकांगी दृष्टिकोण में निहित है। विश्वमानव बुद्धि के अति विकास पर है उसकी आत्म–दृढ़ता पिछड़ गई है। परम्परा से विच्छिन्न और नवीन से पिछड़ा हुआ मनुष्य बिना सोचे-समझे पतन के भय से मुक्त प्रवृत्ति परिचालित लक्ष्य को निर्धारित किये बिना आगे बढ़ रहा है। मनुष्य का अस्तित्व आज संकट में जान पड़ता है। युद्ध की भयंकरता, राजनीतिक आतंक, सामाजिक निषेध, जीवन की सुविधाओं के अभाव से उत्पन्न घुटन और आक्रोश मनुष्य को विद्रोही बनाये दे रहे हैं तो दिनकरजी का यह कथन उचित ही जान पड़ता है कि—

"आधुनिक मनुष्य की पीड़ा उस मनुष्य की पीड़ा है जो फल तो फुनगी पर खाना चाहता है किन्तु वहाँ तक छलांग लगाने की शक्ति से वह हीन है। प्रत्येक क्षेत्र में आदमी का अपराध एक दिखाई देता है यानी उसकी बुद्धि अति विकास पर है, जबकि उसकी भावना

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, गतिशील चिंतन, पृष्ठ ११५

और चरित्र दोनों पिछड़े हुए हैं।" इसमें मनुष्य का इतना दोष नहीं जितना युग की भ्रामक दृष्टि का है। लेकिन अभी निराश होने का समय नहीं आया है, समय पर सावधान होने से सब कुछ हो सकता है भारतीय जनजीवन को ऐसे धक्के अनेक बार सहने पड़े हैं। भारतवर्ष कभी जीता और कभी हारा है। देश में अनेक जातियों के आगमन के प्रमाण समाज और संस्कृति के इतिहास से मिलते हैं। दिनकरजी ने ग्यारह जातियों के आगमन का उल्लेख किया है। ये जातियाँ यहाँ आकर हिन्दू-समाज का अविच्छेद अंग बन गई।[१] हिन्दू समाज में इन जातियों के मिश्रण के परिणामस्वरूप ही परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं। हमारे मनीषियों ने इनमें सामन्जस्य स्थापन का प्रयास किया है।

भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता

हमारी इस समन्वयशीलता ने हमें सदा संभाला है, बचाया है। यहाँ तक कि मुसलमान और अंग्रेज (ईसाई) जो विजेता बनकर आये थे और अपनी समस्त शक्ति से जिन्होंने हमारे संस्कार मिटाने, और हमारी शिक्षा-दीक्षाओं संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास किया। अंग्रेज़ों ने

१. श्री रामधारीसिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय
"·····कम से कम ग्यारह जातियों के आगमन और समागम का प्रमाण मिलता है जिन्होंने इस देश को अपना देश मान लिया ग्रौर जिनका एक-एक सदस्य यहाँ की संस्कृति और समाज में भली भाँति पच खच कर आर्य अथवा हिन्दू हो गया। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्राविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, ग्राभीर, हूण, मंगोल और मुस्लिम आक्रमण के पूर्व आने वाले तुर्क, इन सभी जातियों के लोग कई झुंडों में इस देश में आये और हिन्दू समाज में दाखिल होकर सबके सब उसके अंग हो गये।"

तो राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं वरन् हमें मानसिक दृष्टि से भी दास बनाया। इनसे भी हमारे देशवासियों ने समझौता किया। लेकिन परतन्त्रतावश किया हुआ समझौता दूसरी ही तरह का होता है। इन विजेताओं में मुसलमान पहले आये थे। हिन्दू जनता अनेक धर्मों का स्वागत करते-करते धार्मिक मामलों में सहिष्णु हो गई थी। उसने लड़ाई और मारकाट के दृश्य तो प्रारम्भ से ही देखे थे लेकिन जब उनके मन्दिर गिराये गये, मूर्तियाँ तोड़ी गईं और राजनीतिक दबाव से हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जाने लगा तब उनमें पराजित प्रजा का धर्म जागा। हिन्दू जाति रूढ़ियों और संकीर्णताओं में जकड़ गई। मुसलमानों से घृणा करने लगी लेकिन यह संघर्ष अधिक समय तक नहीं रहा। अकबर के काल तक आते आते भारतीय उदारता ने उस संघर्ष को समन्वय-शीलता से मिलन-माधुरी में परिवर्तित कर दिया। दिनकरजी ने संस्कृति के चार अध्याय में एक वसियतनामे का उल्लेख किया है जो बाबर द्वारा हुमायूं को लिखा गया था इसमें बाबर ने हुमायूं को उपदेश दिया था :—

"हिन्दुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं भगवान (अल्लाह) का धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का राजा बनाया है। तुम तअस्सुब (सांप्रदायिकता) से काम न लेना, निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मों के लोगों की भावना का ख्याल करना। गाय को हिन्दू पवित्र मानते हैं, अतएव जहाँ तक हो सके, गोवध नहीं करना और किसी भी सम्प्रदाय के पूजा के स्थानों को नष्ट नहीं करना"[1] अकबर के समय से हिन्दू हो चाहे मुसलमान दोनों जातियों के साहित्यिकों, कलाकारों और संस्कृति के उन्नायकों को आदर मिला।

---

१. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ २६६—इस वसियतनामे की प्रति भोपाल के राज्य पुस्तकालय में है।

"अकबर ने मनोहर मिश्र जगतराम, बीरबल, होलराय, टोडरमल, भगवानदास, मानसिंह, नरहरि और गंग को काफी सम्मान दिया। हिन्दू चित्रकारों में भी मुकुन्द, महेश, जगन, हरिवंश और राम का मुगलों के यहाँ बड़ा सम्मान था। रसखान आलम, जमाल, रसलीन, कादिर, मुबारक और रहीम ने हिन्दी साहित्य की उन्मुक्त भाव से सेवा की।"[1]

हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक ग्रन्थ 'चन्द-छन्द बरनन की कथा,' अकबर के काल में ही लिखा गया। आदिकाल का महत्त्वपूर्ण सदेश-राशक का लेखक अब्दुल रहमान मुसलमान ही था। खड़ी बोली का विकास क्रम देखें तो खुसरो का प्रयास प्रशंसनीय दिखाई देता है। महा-भारत का बंगला अनुवाद नसीरशाह (१२८२–१३२५) ने किया था। हुसेन-शाह ने भागवत का बंगला अनुवाद करने का प्रबन्ध किया था। फिर तो योगवासिष्ठ, लीलावती, नलदमयन्ती सिंहासन बत्तीसी, रामायण, महाभारत इत्यादि के फारसी में खूब अनुवाद हुए। सूफी मुसलमानों की हिन्दी सेवा सर्वविदित है। कबीर ने रामानन्द से भक्ति-भाव लेकर जो "सप्त द्वीप नव खण्ड" में फैलाया उसका हिन्दू और मुसलमान दोनों पर ही प्रभाव पड़ा।

आधुनिक काल में खड़ी बोली के चार प्रारम्भिक गद्य लेखकों में से इंशाअल्लाखाँ, मुसलमान ही थे जिन्होंने हिन्दू जीवन की कहानी लेकर "रानी केतकी की कहानी" सबल खड़ी–बोली गद्य में लिखी है! तात्पर्य यह है कि मुसलमानों की क्रूरता और हिंसा-भावना हिन्दुओं की समन्वय-शीलता के सामने पराजित हुई। इनके आगमन के बाद जो साहित्यिक और सांस्कृतिक आन्दोलन उठे वे सब प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की पृष्ठभूमि पर ही प्रतिष्ठित थे। कबीर ने ही खुलकर हिन्दू-मुस्लिम

१. दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २६६

एकता का प्रचार किया "कोई हिन्दू, कोई तुरक कहावे एक जमीं पर रहिये" और उन्होंने धर्म और जाति की बाहरी रूढ़ियों का खण्डन करते हुए आन्तरिक-एकता को प्रतिष्ठित करने वाले तत्त्वों पर बल दिया।

"जो तू बामन बामनी जाया। तो आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया
जो तू तुरक तुरकनी जाया। तो भीतर खतना क्यों न कराया"

यह हिन्दू-संस्कृति की विजय ही है जबकि मुसलमानों के संपर्क से मिश्र, ईरान आदि के प्राचीन धर्म नष्ट हो गये, पर भारत का धर्म स्थिर रहा। समन्वय के परिणामस्वरूप 'दीने इलाही' अस्तित्व में आया। सूफी सम्प्रदाय में भारतीय संस्कृति के अध्यात्म, योगसाधन, रहस्य और विश्वात्मवाद को आत्मसात किया था। पीरों के मकबरे बनाकर पूजने का भाव भारतीय संस्कृति की देन है। संगीत विरोधी मुसलमान भजन, नृत्य और संगीत द्वारा अपने पीर-पैगम्बरों को रिझाते हैं तो इसे भारतीय संस्कृति प्रभाव का प्राबल्य ही कहा जायेगा। भारत का बौद्ध धर्म जब बर्मा, लंका, तिब्बत गया तो उनके प्राचीन धर्म को हटाकर जम गया लेकिन अपने जन्मस्थान भारत में बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म को नहीं मिटा सका। इसके पीछे यही रहस्य है कि भारतीय संस्कृति अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व धर्म के शाश्वत तत्त्वों को अपना कर चली है। विश्व में अपने को और अपने में विश्व को देखने की भावना ने ही उसे सदा से बल दिया है। पर यह नहीं समझना चाहिये कि आध्यात्मिक साधना ने भारतीय संस्कृति के बाह्य पक्ष अर्थात् भौतिक विकास से विमुख किया है। वे सर्व धर्म और सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णुता, सत्य, अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन में अपना कर आगे बढ़े लेकिन भौतिक कर्तव्यों से भी मुख नहीं मोड़ा। शंकराचार्य ने इसीलिये कहा था—संसार मिथ्या है लेकिन व्यवहारिक दृष्टि से सभी कुछ सत्य है। वेदव्यास ने भी कहा था—प्रत्यक्ष लोक-जीवन को जाने बिना

मनुष्य सर्वदर्शी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण ज्ञान के लिये मनुष्य के लिये भौतिक जीवन का ज्ञान भी आवश्यक है। मनुष्य के भौतिक कल्याण की अवहेलना करना उचित नहीं।

"मनुष्य लोके यच्छ्रेयः पर मन्ये युधिष्ठिर।"

यह महाभारत की उक्ति है—"हे युधिष्ठिर मनुष्य लोक में जो श्रेय है उसी को मैं महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।" भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक सुख से ही मनुष्य का जीवन पूर्ण बनता है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि हमारी संस्कृति में कहीं भी लौकिक जीवन की उपेक्षा नहीं की गई है। इसलिये आज जो अपना सब कुछ यह कह कर ठुकराया जा रहा है कि हमारा प्राचीन साहित्य और संस्कृति परिकल्पना और केवल अध्यात्म पर आधारित है तो यह भारी भूल है।

वर्तमान सभ्यता का सांस्कृतिक परम्परा से विच्छेद :

आज भी सन्तुलन की आवश्यकता है। इसी संतुलन ने स्वाभिमानी वर्ग को तब भी बचाया था जब अंग्रेज़ आये। उन्हीं स्वाभिमानियों की साधना से हम स्वतन्त्र हो सके, लेकिन अभी समस्या हल कहाँ हुई है? हम अब भी परतन्त्र हैं–मन और मस्तिष्क से। उन्होंने (अंग्रेज़ों ने) अपनी जड़ें जमाने के लिये हमें राजनीतिक दृष्टि से ही परतन्त्र नहीं किया था वरन् हमारी संस्कृति को दबाकर अपनी संस्कृति का प्रचार किया और ऐसी मानसिक दासता दी जिससे हम आज तक मुक्त नहीं हुए हैं। मेकाले ने यहाँ की शिक्षा पद्धति को ऐसा रूप दिया कि इस देश की नव पीढ़ी एक ओर तो स्वदेशी संस्कारों से विच्छिन्न हो गई और दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति को ऐसे ग्रहण किया जैसे वही उसकी अपनी हो। जिस समय अंग्रेज भारत में आये उनका देश भौतिक उन्नति के शिखर पर था। जीवन स्तर को ऊँचा उठाने वाले वैज्ञानिक साधन, कर्मशीलता, विचारशीलता और बौद्धिकता

कुछ ऐसे तत्त्व थे जिस पर भारतीय जनता का मन मुग्ध हो गया। इन दिनों यूरोप में डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त उथल-पुथल मचाये था। स्पेन्सर ने डार्विन से प्रेरणा पा जगत के सम्पूर्ण व्यापारों में विकास परम्परा की प्रतिष्ठा की थी और फलस्वरूप मनुष्य की महत्ता बढ़ायी थी। मनुष्य के सुख दुःख उसके पुण्य-पापों का फल नहीं माने गये। फिर मार्क्स ने मनुष्य को सब प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक शोषण से मुक्त कराने की भावना को जन्म दिया। यूरोपीय साहित्य में नई वैज्ञानिक, जीव शास्त्रीय, मानव शास्त्रीय व्याख्याओं की प्रेरणा से जीवन जगत् और जीव की नवीन व्याख्याएँ की गईं। ईश्वर, धर्म, नैतिकता, सभी पर प्रश्न चिन्ह लगे। लेकिन इन सब के उपरान्त भी मनुष्य की मनुष्यता में आस्था शेष रही इसलिये अनास्था का स्वर हमारे साहित्य और संस्कृति में नहीं आया था, पाश्चात्य संस्कृति और साहित्यिक सम्पर्क ने मानवता, स्वावलम्बन, राष्ट्रीयता, मनुष्य को मुक्ति का भाव सभी कुछ दिया लेकिन व्यक्तिवादी भावनाएँ भी दीं जिसके आविर्भाव ने सामूहिक कल्याण में बाधा उपस्थित की है।

आधुनिक काल में भी सांस्कृतिक समन्वयशीलता :

ऐसे समय में धर्म और दर्शन के क्षेत्र में दयानन्द, विवेकानन्द और राधाकृष्णन् ने, राजनीति और समाज के क्षेत्र में, गांधी, विनोबा और जवाहरलाल ने, साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्र नाथ, प्रेमचन्द, प्रसाद, महादेवी, निराला और पन्त ने अधिक से अधिक मनुष्य का भला करने वाली धारणाओं और प्रथाओं को श्रेष्ठ बताते हुए नये मानवतावादी जीवन धर्म की प्रतिष्ठा की। भारत में एक बार इन सब ने फिर धर्म, दर्शन और समाज की प्राचीन मान्यताओं को नई परिस्थितियों के अनुरूप व्याख्या कर देश को बचा लिया। मनुष्य के सामने ऐसा धर्म ऐसा कर्तव्य रखा जो विश्व धर्म अथवा विश्व संस्कृति का विरोधी नहीं है। आज इस अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में संस्कृति का ऐसा स्वरूप प्रतिष्ठित

होना चाहिये जिसमें विश्व मानव का हित निहित हो। जो विश्व धर्म और विश्व बन्धुत्व की भावनाओं का प्रचार कर सके। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति अथवा राष्ट्रीय संस्कृति को देखा जाये तो वह विश्व धर्म विरोधिनी नहीं है। हमारे ऋषियों ने तो जीवन के सभी प्रयासों का प्रयोजन मानव को दुःख, विकारों, क्लेशों और कष्टों से मुक्त कर उस आनन्दमय और सात्विक स्थिति तक ले जाना बताया था जहाँ उसके रोम-रोम से मानव मंगल की ध्वनि निसृत होती है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भवन्तु पश्यन्तु मा कश्चिद दुखः मान्जुयात

उन्होंने मानव को परिष्कार चेष्टा के सहारे सुखी बनने के रास्ते सुझाए थे। ऐसे रास्ते जो उसके शरीर, मस्तिष्क और आत्मा को परिष्कृत करें। इस परिष्कारक्रम में ही उन्होंने साधना के फल पाये थे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क ने हमारे साहित्य और समाज को ऐसे विचार भी दिये हैं।

वर्तमान स्थिति में हमारे चिंतक और मनीषियों का विशेष उत्तर-दायित्व है कि वे परम्परा के प्रसंग से नवीन को प्रतिष्ठित करें! दूसरी ओर हमारा इतिहास पुराना है। हमारी सांस्कृतिक विरासत सम्पन्न है और हम भुक्त-भोगी भी हैं जो साम्राज्यवाद के शिकंजे से अभी कुछ वर्ष पहले मुक्त हुए हैं इसलिये ऐसा करना चाहिये जिससे पुनः हमें राजनीतिक परतन्त्रता और आर्थिक शोषण को सहना न पड़े। सामाजिक विषमता से उत्पन्न कुपरिणामों ने भी हमें खूब सताया है। अतः हम भुक्त-भोगियों से अधिक आज के मानव की पीड़ा को और आने वाले भयावह परिणामों को कौन समझ सकता है। ऐसी स्थिति को सँभालना आवश्यक है। युद्ध की आँधी जो सारे संसार में फैल रही है कहीं यहाँ न आ पहुँचे। इससे पहले विश्व बोध और राष्ट्र बोध का सन्तुलन कर

हमें सजग हो जाना है। संस्थाओं के माध्यम से कुछ ऐसा होना चाहिये जिससे मानवता को, समष्टि मनुष्य को, शोषण से मुक्त कराने का प्रयास किया जा सके। मानसिक स्वाधीनता के स्वर सब ओर फैल जायें। मनुष्य निराशा के गर्त से निकल कर वर्तमान संस्कृति के सच्चे स्वरूप को समझने की सामर्थ्य पाये।

मनुष्य जीवन में शक्ति ग्रहण करें इसलिये हमें अपनी संस्कृति के पुनर्निर्माण और साहित्य को स्थायित्व देने के लिये इन पर निष्पक्षता से सोच लेने की आवश्यकता है।

"हम कौन थे क्या हो गये
और क्या होंगे अभी—
आओ विचारें आज मिलकर
ये समस्याएँ सभी [1]

साहित्य, धर्म, दर्शन, संगीत और कला सब की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंग में युगानुकूल व्याख्या होनी चाहिये। उदाहरण के लिये जिस प्रकार विवेकानन्द ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर धर्म और दर्शन की व्यख्या कर उसे महनीय बनाया था उसी दिशा में डा० राधाकृष्णन् ने धर्म तुलनात्मक दृष्टि में, 'समाज और धर्म' इत्यादि पुस्तकों के द्वारा दर्शन और धर्म की युगानुरूप विवेचना की है। कला के क्षेत्र में प्रभाववाद को लेकर हमारे देश में बड़े सफल प्रयोग हो रहे हैं और प्राचीन कला पद्धतियों का भी उद्धार हो रहा है दुःख की बात तो यह है कि विदेशी पारखी तो ऊँचे मूल्य में हमारे पुरातत्त्व की वस्तुएँ चित्र, सिक्के इत्यादि क्रय करके ले जाते हैं और उनका संग्रह करते हैं और हमारे यहां अभी बहुत बड़ा कलाकार वर्ग प्रभाववाद के पीछे प्रमत्त है। रही साहित्य की

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती

बात वह सांस्कृतिक निर्माण का सर्वश्रेष्ठ साधन है और वही सब से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय निराशावादी प्रवृत्तियों (अस्तित्ववादी विचारधारा) से आक्रांत हुआ है। इसकी व्यवस्था की समस्या सर्वप्रमुख है, तभी सांस्कृतिक निर्माण संभव हो सकेगा।

: ५ :

साहित्य, नये मोड़-नये प्रश्न

साहित्य का शाश्वत प्रयोजन—मनुष्यत्व :

साहित्य किसी राष्ट्र के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। साहित्यकार इसके प्रति तभी सच्चा रह सकता है जब वह स्वतन्त्र विवेक और आन्तरिक संवेदना और सच्चाई से अपने दायित्व (साहित्यिक) की जाँच करे, साहित्य के धर्म को समझे। मानव समाज के मंगल से मंडित होकर ही आदिकाल से साहित्य में मनुष्य की भावना सुन्दर कलाओं और श्रेष्ठ साहित्य में परिणत होती रही है। मनुष्य कल्याण से प्रेरित इन्हीं कलात्मक प्रयासों और श्रेष्ठतम साधनाओं में सब से सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण साहित्य है। साहित्य का सत्य सुन्दर और शिव से भिन्न नहीं। साहित्य की संवेदना उस समग्रता और सुन्दरता से समाहित है जो बाह्य भेद-विभेदों को तोड़कर मनुष्य-मनुष्य में एकता स्थापित करती है, दुःख-कष्ट निराशा का निवारण कर उसे स्वार्थ के दलदल से ऊँचा उठाती है।

परिष्कार चेष्टा का यह प्रयास प्रत्येक काल के श्रेष्ठ साहित्य में दृष्टिगत होता है—यह परिष्कार चेष्टा मनुष्य का स्वाभाविक धर्म

है जिस तरह मनुष्य भौतिक जीवन में सुख प्राप्ति के लिये भूख, पीड़ा और निराशा से छुटकारा पाने के लिये नित नये वैज्ञानिक आविष्कार, नित नई औषधियाँ, शल्य क्रियाएं और औद्योगिक उन्नति का अनुसरण एवं नये सामाजिक विधान की कल्पना करता है उसी प्रकार मन और आत्मा के परिष्कार के लिये प्रत्येक काल में सुन्दर साहित्य का सृजन होता आया है—दार्शनिक मीमांसाएं होती हैं। धर्म की नई-नई व्याख्याएं होती आई हैं। तात्पर्य यह है कि मानवता का बाह्य और आन्तरिक कल्याण और सुख ही विभिन्न विद्याओं और साहित्य का सदा लक्ष्य रहा है। वेदों से लेकर आज २०वीं शताब्दी तक भारत की विशाल साहित्यिक परम्परा पर दृष्टि डाली जाये तो सभी साहित्यिक युगों में मानवीय विश्वास और मानवत्व को ऊँचा उठाने वाले स्वर ही प्रेरणा देते दिखाई देते हैं।[१] आधुनिक काल में प्रसाद,[२] निराला, पंत[३]

---

१. असतो मा सद गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योमडमृत गमय

२. जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में ऐसे ही कैलाश की कल्पना की है जिसमें—

शापित न यहां है कोई
तापित पापी न यहाँ है
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।

३. सुमित्रा नन्दन पन्त, गुंजन

सुन्दर विश्वासों से
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज–सहज सांसों से
चलता उर का मृदु स्पन्दन।

महादेवी, हजारी प्रसाद द्विवेदी[१] और नगेन्द्र सभी ने साहित्य में आस्था को महत्ता दी है।

भारतेन्दु काल से प्रारम्भ कर स्वतन्त्रता पूर्व साहित्य तक भी युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक गतिविधियाँ इसी लक्ष्य से अनुप्राणित रही हैं। देशी, विदेशी सभी मनीषियों के चिन्तन का लक्ष्य मानव को दुःख, कष्ट तथा शोषण (राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक) से मुक्त करना और सुखी बनाना रहा है। साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति का प्रयास कांग्रेस ने किया। प्रजातन्त्र पद्धति, समाजवाद और साम्यवाद का लक्ष्य भी मनुष्य को शोषण से मुक्त कर सुख और सम्पन्नता प्रदान करना है। सामाजिक क्रान्ति द्वारा नवीन सामाजिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा, प्राचीन रूढ़िवादी परम्पराओं का खंडन समाज के गुण-दोषों की समीक्षा तथा भेद-भाव विषमता, शोषण और गरीबी से मुक्त स्वस्थ विकसित समाज का स्वप्न भी मानवहित से ही प्रेरित है। धर्म के क्षेत्र में कर्मकाण्ड की उपेक्षा, दर्शन, चिन्तन की प्रधानता, विश्व धर्म की कल्पना भी मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठाकर मनुष्य—मनुष्य में बन्धुत्व और सहानुभूति स्थापित करने के लिये ही की गई। व्यक्तिवाद का आविर्भाव, व्यक्ति को समाज के दबावों से मुक्त करने के लिये हुआ। मानव मन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का लक्ष्य

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार वितर्क, पृष्ठ ५४

"साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है–जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नहीं होता, जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठा कर खड़ा नहीं हो जाता है। जिससे वह छीना-झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता वह पुस्तक किसी काम की नहीं है और किसी ज़माने में वागविलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा किन्तु इस युग में साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो"।

भी दुःख विकारों से मुक्त स्वस्थ मानव संस्कृति का निर्माण है । इसी चिन्तन धारा का प्रभाव भारतेन्दु से-विशेषतः प्रेमचन्द, प्रसाद से लेकर महादेवी, पंत और दिनकर तक के साहित्य में दिखाई देता है । जीवन के विविध पहलुओं में प्रचलित विचाधारओं का लक्ष्य मनुष्य को भौतिक नैतिक तथा मानसिक दृष्टि से स्वस्थ और सम्पूर्ण बनाना है । यही कारण है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित भाव और विचारधारा को लेकर लिखे जाने वाले साहित्य में आशा, उल्लास, चेतना और स्फूर्ति के स्वर मुखरित हुए हैं ।

साहित्य के बदलते स्वर :

धीरे-धीरे सभी क्षेत्र में परिवर्तन दिखाई दिया । राजनीति के क्षेत्र में प्रेमचन्द जैसे सुधारक और विचारक के साहित्य में गोदान तक आते आते समाज के स्थान पर व्यक्ति के प्रति सहानुभूति होती गई और जैनेन्द्र से लेकर अज्ञेय तक पहुँचते-पहुँचते घोर व्यक्ति वादी, अहंकारी अथवा आत्मद्रोही पात्रों से युक्त समाज का चित्रण होने लगा । धर्म के क्षेत्र में भी कर्मकाण्ड रहित धर्म की व्याख्या, विश्व धर्म और मानव धर्म के साथ नास्तिकवाद का आविर्भाव हुआ । अज्ञेय के अधिकतर उपन्यासों और कहानियों के अधिकांश पात्र नास्तिक हैं । राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र और समाजवाद के संरक्षण में संजोये हुए सपनों के टूटने से निराशा, दुःख और त्रास की अभिव्यंजना हुई है । तात्पर्य यह है कि १९४७ के पश्चात् सम्पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ और साहित्य का स्वर ही बदलने लगा । अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क से अस्तित्ववाद और क्षणवाद जैसी विचारधाराएँ भी भारत में आईं । फलस्वरूप साहित्य में समाज से विच्छिन्न घोर व्यक्तिवादी एकाकी, निराश और कुंठाग्रस्त पात्रों का चित्रण होने लगा ।

राजनीति के क्षेत्र में भी शान्ति, तटस्थता अहिंसा, पंचशील के सपने चूर-चूर हो गये हैं । दिन ब दिन युद्ध का खतरा बढ़

रहा है। साथ ही आर्थिक अव्यवस्था और विषमता से बढ़ती हुई ग़रीबी ने जीवन के भोगे हुए दुखःपूर्ण यर्थाथ को चित्रित करने के लिये साहित्यकारों को उत्तेजित किया है—यही कारण है कि कविता राष्ट्रीयता, सांस्कृतिकपुर्ननिर्माण, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद के सोपानों को पार कर नयी कविता और अकविता की स्थिति तक पहुँच गई है। कथा साहित्य में उपन्यास आदर्शवाद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, घोरयथार्थवाद, ऐतिहासिकता, मनोवैज्ञानिकता और व्यक्तिवाद की मंजिलों को पार कर, इतिहास, राजनीति समाज अर्थ और व्यक्ति की समस्याओं को सुलझाता हुआ आंचलिकता की स्थिति से निकल कर लघु और बृहत्, उपन्यासों की धाराओं में बंटकर कभी भोगे हुए अनुभव के वर्णन को ही सब कुछ मान कभी कथ्य को प्रधानता देता हुआ अनेकानेक प्रयोग प्रस्तुत कर रहा है। कहानी १९५० तक राष्ट्र की सम्पूर्ण समृद्ध युग चेतना से अनुप्राणित होती हुई १९५० के बाद नई कहानी, सचेतन कहानी और फिर अकहानी बन गई है। आलोचना साहित्य भी प्रभाववाद, प्रगतिवाद, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक शास्त्रीय सौष्ठवपूर्ण और अनुभवात्मक रूपों से निकल कर नव-समीक्षा का रूप धारण कर बैठी है। एकांकी का रंगमंच से अधिक सम्बन्ध हुआ है। कविता अस्तित्ववाद क्षणवाद और 'एंग्री पीढ़ी' अथवा 'भूखी पीढ़ी' की भावनाओं को ढोती हुई परम्परा से विच्छिन्न हो गई है। साहित्यरूपों में आधुनिकता से सब से अधिक आक्राँत कहानी और काव्य साहित्य हुआ है।

सभी क्षेत्रों में यदि देखा जाये तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि युगचेतना को आत्मसात कर देश की समृद्ध परम्परा को आगे बढ़ाने वाला साहित्य भी लिखा गया है और ऐसा साहित्य भी जो हमारे सामने युग के प्रभाव के फैशन रूप में आया है और फैशन की समाप्ति के बाद उसकी चर्चा भी समाप्त हो जायेगी। आधुनिक युग में शीघ्रता से बदलते हुए जीवन के मूल्यों ने साहित्य को प्रभावित किया है। इन परिवर्तमान

रूपों की पृष्ठ भूमि में नवीन की चाह तो है ही–विदेशी प्रभाव भी पूर्णत: दिखाई देता है।

साहित्य और युगचेतना पर अन्तर्राष्ट्रीय विचार धाराओं का प्रभाव :

इंग्लैड में जो स्वच्छन्दवाद आया था, वह संवेदनशील मानव चित्त में भौतिक समृद्धि और औचित्य बोध की टकराहट का परिणाम था। उनके स्वच्छन्दवादी साहित्य की अभिव्यंजना के पीछे कुछ ऐसा रच देने की चाह थी जो नया ही सुन्दर हो और समाज में नयापन ला सके। यह नयापन बाहरी असुन्दरता को बदलने के प्रयास का परिणाम था। हमारे देश में भी जो द्विवेदी काल के उत्तरार्द्ध में भाव धारा में नवीनता आई थी उसमें जीर्ण पुरातन को नष्ट भ्रष्ट कर देश के जीवन में वैभव-बसन्त ला देने की उमंग ही थी। साकेत में राम कथा युगानुरूप नया रूप रखकर आई थी प्रिय-प्रवास में कृष्ण कथा को बौद्धिक दृष्टि-कोण से देखा गया था। कर्तव्य में नाटक राम और कृष्ण कथा की सभी अलौकिक घटनाओं को तर्क सम्मत बनाकर प्रस्तुत किया गया था। कबीर का रहस्यवाद महादेवी और रवीन्द्र की वाणी में नवयुग के अनुकूल नई शोभा धारण कर आया था अत: यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-पूर्व साहित्य में युग चेतना शाश्वत संवेदना का आवरण बन कर ही आई थी और इसने साहित्य को नये रूप रंग से मण्डित किया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद धीरे-धीरे जब युग चेतना भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से अनुप्राणित हुई तो साहित्य का स्वरूप एकदम बदल गया। देश में मार्क्सवाद का प्रवेश तो प्रेमचन्द से प्रारम्भ हो गया था। फिर तो इस विचारधारा का इतना प्रचलन हुआ कि स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य में गांधीवादी सिद्धान्तों पर मार्क्स विजयी होने लगे। पंत जैसे सौष्ठववादी भी मधुर गान छोड़कर यथार्थ के गीत रचने लगे और कुछ समय के लिये गांधी और रवीन्द्र के शाश्वत स्वर

दब से गये। और मार्क्स जो विश्व के बहुत से देशों के साहित्य पर छाया हुआ था अनुकूल परिस्थितियाँ पा कर हमारे साहित्य पर भी छा गया। इसके पश्चात् समाजवाद के सपनों से भी व्यक्ति को जब कुछ प्राप्त नहीं हुआ तब व्यक्तिवाद प्रबल हुआ। और मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवाव, प्रयोगवाद अस्तित्ववाद प्रभाववाद और क्षणवाद प्रमुख हुए। तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता के बाद जिस युग बोध के नाम पर साहित्य में मन-मानी की जा रही है—उस युग चेतना का सहयोग साहित्य में पहले भी रहा है लेकिन "युग चेतना" अथवा युग संस्कृति ने साहित्य को जीवंतता प्रदान की थी साहित्यकारों ने भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप उनका प्रयोग किया था। क्योंकि युग बोधके अनुरूप पुराना केवल नाम बदल कर नहीं आता है और न नवीन प्राचीन से एकदम विच्छिन्न हो जाता है। इसमें शाश्वत मूल्य वैसे ही रहते हैं। बाहरी सब कुछ बदल जाता है। इस संबंध में हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन पूर्णतः सार्थक है।

"इतिहास अपने-आप चाहे तथ्यात्मक जगत् में कभी-कभी दुहरा भी लेता हो परन्तु विचारों की दुनिया में वह जो गया सो गया, मनुष्य का जीवन अपना उपमान आप ही है। उससे एक बार जो गलती हो जाती है या भटकाव आ जाता है। इस जुड़े हुए अंश का किसी पूर्ववर्ती युग में नहीं पाया जा सकता।"

युग संस्कृति—नवीनता के लिये अनिवार्य और शाश्वत जीवनबोध चिरन्तनता के लिये।

वास्तव में प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग की देन होता है। हम केवल पुराने की लकीर पीट कर विश्व साहित्यकारों की समकक्षता में नहीं खड़े हो सकते और न अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा से विच्छिन्न होकर ही चिरन्तन साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। अतः वर्तमान साहित्य हमारे देश की परम्परा की अगली कड़ी

तभी बन सकता है जब वह 'समय बोध' के साथ जीवन के शाश्वत बोध या सत्य को मान्यता दे।

आज अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में जब जीवन के मूल्य शीघ्रता से बदल रहे हैं तो जीवन में बिखराव आया है। तो साहित्य की विचार-धाराएं भी बदलें और उसमें भी बिखराव आये तो क्या आश्चर्य है। लेकिन इस बिखराव चित्रण या निराशा, घुटन और त्रास की चीख पुकार से साहित्य स्थाई होने वाला नहीं। ठीक है जहाँ तक यह यथार्थ चित्रण देश को और पाठकों को उनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराये—हमारे साहित्यकार इसे भले ही अपना लें लेकिन इस बिखराव घुटन और निराशा से त्राण और मुक्ति के लिये शाश्वत स्वर भी उसमें होने चाहिये तभी साहित्य बच सकेगा।

हजारीप्रसादद्विवेदी का यह कथन नई पीढ़ी और समकालीनों को सही निर्देश देता है।

"यह गांठ बांध लो कि जो इस पूरे बिखराव को संभालने में सक्षम है, जिनके पास समेटने की कला है, वस्तुत: वे ही उच्चकोटि का सृजन कर सकते हैं, जो अचेत हैं, उनकी पकड़ में यह बिखराव कभी बँध नहीं पाता। छूट जाता है"। [१]

बात ठीक है परिस्थितियों का चित्रण कोई बड़ी बात नहीं—बड़ी बात है इन परिस्थितियों के चित्रण से विशाल जीवन का संयोजन और मानवता की समग्रता का संदेश। प्रत्येक काल के साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का अवलोकन करें तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वे अब भी लोकप्रिय हैं केवल इसलिये नहीं कि उनके सृष्टाओं ने अपनी युग-संस्कृति को सम्पूर्ण सामर्थ्य से आत्मसात कर व्यक्त किया था वरन् शाश्वत जीवन बोध की अनुभूति ने उन्हें चिरन्तन बनाया है। प्रेमचन्द

१. संपादक धर्मवीर भारती, धर्मयुग, २३ अक्टूबर १९६६ पृष्ठ १९

का गोदान आज भी उतना ही मर्मस्पर्शी और लोकप्रिय है। केवल इसलिये नहीं कि उसमें प्रेमचन्द ने युगानुरूप किसान-जमीदार वर्ग का संघर्ष तथा अन्य ग्रामीण समस्याओं को चित्रित किया है, वरन् वह इसलिये लोकप्रिय है कि उसमें प्रेमचन्द युग के चित्रण के साथ जीवन के शाश्वत स्वर भी हैं। उसमें होरी जैसे सामान्य मनुष्य आज के साहित्यकार के शब्दों में 'लघुमानव' के जीवन के माध्यम से विशाल मानवता की संभावनाएं मुखरित हुई हैं और मानव जीवन की सम्पूर्ण विशालता, करुणा में निमज्जित हो कर दुःखों की कसौटी पर खरी उतरी है। दूसरी ओर वाणभट्ट की आत्मकथा, इसलिये महान् नहीं है कि उसमें सम्पूर्ण मध्यकालीन संस्कृति हमारे सामने उभर कर आई है, वरन् वह तो इसलिये अनुपम है कि वाण और उसकी सहयोगिनी निउनिया के माध्यम से एक ऐसे स्वस्थ और भव्य मानव समाज की उच्चत्तम स्थिति की संभावनाएं हमारे सामने प्रस्तुत की गई हैं कि जो हृदय में सात्विकता के स्फुरण से मानव मन को पवित्र बनाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि न तो युग संस्कृति को ज्यों का त्यों साहित्य में घटित कर देने से कोई साहित्य सुन्दर बन सकता है और न पुरातन संस्कृति के विषय मात्र को अपना कर कोई साहित्य सार्थक हो सकता है। यह सार्थक होता है तभी जब उसमें युगबोध के साथ शाश्वत जीवन बोध उभर कर पाठकों के समक्ष आता है।

युगबोध और शाश्वत भारतीय साहित्य :

इस दृष्टि से यदि हम अपने देश के साहित्य को देखें तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह प्रत्येक युग की सांस्कृतिक चेतना और सभ्यता की क्रिया-प्रतिक्रियाओं से प्रतिबिम्बित और परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ आगे बढ़ा है। फिर मानवीय उदारता और उदात्तता का अदम्य श्रोत उसे सदा शक्ति देता रहा है उसने भय और भटकन से सदा मुक्ति पाई है और जड़ता से मुक्त होकर चिरन्तन भावराशियों के बल पर वह

आगे बढ़ा है। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, स्मृतियां, महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य और स्वतन्त्रता पूर्व का गद्य और पद्य साहित्य इसका प्रमाण है। इसके अतिरिक्त लोक साहित्य के रूप में हमारे पास अपार अनुपम निधि है। यही कारण है कि देश के ही नहीं वरन् विदेशियों का ध्यान भी हमारे साहित्य की ओर आकर्षित होता रहा है।

भारतीय साहित्य का शाश्वत मूल्य और विदेशियों का आकर्षण

यही कारण है पश्चिम के विद्वानों ने प्राचीन साहित्यों के पुनरुद्धार की स्वस्थ परम्पराएँ हमारे देश में स्थापित की थीं। मैक्समूलर, ग्रियर्सन, गार्सी दा तासी, टॉड, चार्ल्स, विल्किस, ट्रायर, मिल कनिंघम इत्यादि ऐसे ही मनीषी थे जिन्होंने भारतीय पुरातत्त्व और इतिहास के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया था। यह कार्य संस्थाओं के माध्यम से भी हुआ। मंदिर, मूर्तिओं, शिलालेखों, ताम्रपत्रों और हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज से नये-नये रहस्य खोले गये थे। काव्य, कला, संगीत, साहित्य, धर्म, दर्शन का प्रामाणिक इतिहास तैयार किया गया। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों की प्राचीनता प्रमाणित हुई और नवीन भाव-धारा के साथ प्राचीन भी नये रूप में स्पष्ट हुआ। इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्व साहित्य में प्राचीन परम्परा भी सुरक्षा और नवीन की साधना दोनों दिशा में ही उल्लेखनीय कार्य हुआ था। वैभवकाल के साहित्यकारों ने नवीन विचारधाराओं को कभी इतिहास के धरातल पर, कभी संस्कृति से जोड़कर, कभी समाज की पृष्ठभूमि पर और कभी व्यक्ति की सहानुभूति के लिये इस प्रकार का साहित्य प्रस्तुत किया था कि एक ओर प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का गौरव अक्षुण्ण रहा और दूसरी ओर नवयुग के उभरते स्वर उनके साहित्य को सहज और विकासशील बनाये रहे। यही कारण है रवीन्द्र, शरद, प्रेमचंद, प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंत, महादेवी और रामकुमार वर्मा और दिनकर के साहित्य में संस्कृति की साधना भी समाहित है।

कारण स्पष्ट है इनके साहित्य में युगबोध शाश्वत बोध का अंग बनकर प्रकट हुआ है।

स्वतन्त्रता पूर्व साहित्य में सभी अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराएँ देश में प्रविष्ट हुई थीं लेकिन उनसे साहित्यकारों का दृष्टिकोण संकुचित होने के बदले व्यापक बना था। प्रजातन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद, मनोविज्ञान, विकासवाद, व्यक्तिवाद, इत्यादि सभी के प्रभाव से मानव को दुःख, कष्ट और क्लेशों से छुटकारा दिलाकर अधिकाधिक सुखी बनाने के प्रयास में ही विस्तृत विविध रूपात्मक साहित्य अस्तित्व में आया था।

विदेशी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव में दोष नहीं

अतः न तो विदेशी प्रभाव में दोष है और न युगबोध को महत्ता देने में। स्वतन्त्रता पूर्व जब हम पराधीन थे तब नई शिक्षापद्धति, ईसाई धर्म प्रचार और अन्य सभी तरीकों से अंग्रेजों ने हमारी संस्कृति को नष्ट कर, भाषा को दबाकर अपनी भाषा का प्रचार किया था तब भी जन-साधारण के बीच से महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि साहित्यकारों ने आगे आकर अपने सहयोगियों की सहायता से सारे देश को जाग्रत कर दिया था, फिर आज तो हम स्वतन्त्र हैं हमारे देश की प्रजातन्त्र पद्धति है। हमें अपनी भाषा में लिखने-बोलने का पूरा अधिकार है। ऐसी स्थिति में हम जो कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव ग्रहण कर रहे हैं वह हमारे देश की जीवन पद्धति का अंग बनकर आ रहा है हमें कोई बाध्य नहीं कर रहा! क्योंकि आज कोई भी विचारधारा किसी एक देश की विशेषता नहीं है और न सभी विचारधाराएँ सभी देशों में लोकप्रिय हो रही हैं। अतः आज की समस्या तो यह है कि विश्वसाहित्य से क्या लें! अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव अनिवार्य है लेकिन साथ में निर्णयात्मिका बुद्धि भी!

हमें उन्हीं विचारधाराओं को अपनाना चाहिये जो हमारे देश की अनुभूतियों और जीवन पद्धति के अनुरूप हों। हमारे देश की

जीवन गत समस्याओं को सुलझाते हुए मनुष्य को दु:ख और कष्टों से मुक्ति दिला सकें । क्योंकि नई परिस्थितियों में नये अनुभवों द्वारा संसार के क्रिया व्यापार और मानव समाज के मानदण्ड के मूल्य तो स्वभावत: घटते-बढ़ते रहते हैं उसी के अनुरूप साहित्य में भी परिवर्तन होता रहता है । क्योंकि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य और मनुष्य का कल्याण है इसलिये जो नियम और जीवनगत क्रिया-व्यापार मानव कल्याण की दृष्टि से अहितकर सिद्ध हो जाते हैं उन्हें छोड़ दिया जाता है । साहित्य द्वारा नये जीवनगत मूल्य निर्धारित होते हैं क्योंकि नियम मनुष्य के लिये बने हैं न कि मनुष्य नियमों के लिये । इसीलिये आज से दो सौ वर्ष पहले साहित्य मर्मज्ञ जो कुछ साहित्य में देखना चाहता था उसमें से बहुत कुछ उपेक्षणीय हो गया है और जिन बातों को त्याज्य समझता था आज निसंकोच अपनाई जा रही हैं । आदर्शवाद आज तिरोहित हो गया है । यथार्थ चित्रण का साम्राज्य है । व्यक्ति प्रबल और सामाज गौण है । साहित्य में रागात्मिका वृत्ति को हटाकर बौद्धिकता ने सर्वव्यापक सत्ता प्राप्त की है । रस निरुपण के स्थान पर समस्या विश्लेषण का लक्ष्य साहित्य में प्रमुख हो गया है । अत: स्पष्ट है कि केवल अलौकिक सुख या ब्रह्मानन्द सहोदर रस ही साहित्य का लक्ष्य नहीं वरन् मनुष्य के इसी जीवन को सुखी बनाने की कामना से प्रेरित समस्यामूलक साहित्य ही अधिक लोकप्रिय हो रहा है।

साहित्य में मनुष्यों के कर्मों और जीवन व्यापारों का विश्लेषण भिन्न दृष्टिकोण से होने लगा है । उसका दुखी जीवन कर्म का फल नहीं वरन् विकृत समाज की अव्यवस्था का परिणाम है । आर्थिक दृष्टि से समृद्ध, राजनीतिक दृष्टि से सुरक्षित और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र मनुष्य ही सुखी रह सकता है । ऐसी स्थिति यथार्थ जीवन में मनुष्य को मिल नहीं रही है। उसे चारों तरफ निराशा का साम्राज्य दिखाई देता है अत: साहित्य में भी ऐसा ही चरित्र ऐसा समाज चित्रित हो रहा

है यद्यपि फ्रांस और जर्मनी में प्रचलित निराशावाद युद्ध की भयंकरता का परिणाम है लेकिन हमारे यहाँ कुछ समस्याएँ भिन्न हैं साहित्य द्वारा उन्हें सुलझा कर परिस्थिति आशाजनक बनाई जा सकती है।

साहित्यकार यथार्थ चित्रण और मानव धर्म

हमारे साहित्य में केवल निराशा और वेदना के चित्रण से काम नहीं चल सकता। निराशा और वेदना का चित्रण उसी सीमा तक उचित है जहाँ तक यह वर्णन सामाजिकों को वर्तमान विषमताओं और उनसे उत्पन्न पीड़ा के प्रति संवेदनशील बनाता है। उदाहरण के लिये होरी को देखिये। प्रेमचंद ने अपार करुणा और सवेदना से होरी जैसे सामान्य मनुष्य-आज के साहित्यकारों के शब्दों में "लघुमानव" को चित्रित किया। उन्होंने अपने युग की सभी परिस्थितियों दुखों और समाज तथा शासक वर्ग के अत्याचारों को भी सफलता से चित्रित किया। लेकिन सर्वग्रासी परिस्थितियों से क्या होरी विचलित हुआ था ? नहीं ! उसका धैर्य, सहनशीलता, जीवन में संघर्ष करने की साम्थर्य अन्य पीड़ितों के प्रति संवेदनशीलता उसे युग-युग तक लघु हो चाहे महामानव सबका पथ-प्रदर्शक बनाये रखने में समर्थ होंगे। आज के साहित्यकारों से भी यही अपेक्षा है कि वे खुलकर समाज की समस्याओं का, अन्याय का, दुर्बलताओं का चित्रण करें लेकिन मानव का स्वाभाविक धर्म—मानवीयता—जो उसे अन्य प्राणियों से अलग करता है, उससे उसे वंचित नहीं करें।

साहित्यकार और विश्व समस्या युद्ध और शान्ति

दूसरी प्रमुख बात है कि साहित्यकार केवल अपनी राष्ट्रीय परिधि की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को लेकर विश्व साहित्य की समकक्षता में उपस्थित नहीं हो सकता; अतः साहित्य में विश्व शान्ति की समस्या और युद्ध के भय को हटाने के प्रयास प्रस्तुत होने चाहिये। केवल निराशा को व्यक्त करने से ये व्यापक समस्याएँ हल नहीं होंगी। जैसे

इस समस्या का हल डॉ० राधाकृष्णन् ने विश्वधर्म की प्रतिष्ठा में खोजा है। डॉ० राधाकृष्णन् का यह विश्व धर्म मानव धर्म ही है—मानव धर्म की प्रतिष्ठा ही आधुनिक सभ्यता में व्याप्त निराशा का उपचार है, अत: आज जो देश के साहित्य में यह आवाज़ उठाई जा रही है कि हम परम्परा इतिहास, नीति और समाज धर्म के बंधनों की दासता क्यों करें यह तटस्थता का भाव पुरातन से है। ठीक है, पुरातन को हटाकर कुछ नये मूल्य भी तो स्थापित होने चाहिये जो मनुष्य को संवल दे सकें। परम्परा नैतिकता और धर्म को हटा देने से रिक्त स्थान में कुछ लोगों ने व्यक्ति की सत्ता की अस्पष्ट भावनाओं को रखने का प्रयास किया है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार आधुनिक मनुष्य का मन, "रूसो के" सोशल कन्ट्रेक्ट (सामाजिक युगबन्ध) मार्क्स के "कैपिटल" (पूँजी) डार्विन के "आन दी ओरिजिन ऑफ स्पीसीज" (जातियों के मूल विषय में) और स्पेंगलर के "दि डिक्लाइन आफ दी वैस्ट" द्वारा ढला है। हमारे जीवन की बाहरी अव्यवस्था और गड़बड़ हमारे हृदय और मन की अस्तव्यस्तता प्रतिफलित करती है।"[1]

यही अस्तव्यस्तता साहित्य में व्यक्त की जा रही है। समाज से शाश्वत मानव सत्य के लोप से[2] साहित्य में भी उसकी अभिव्यंजना नहीं

---

१. डा० राधाकृष्णन्, समाज और धर्म, पृष्ठ २७

२. " " " " "

'हमारे युग में जो वस्तु लुप्त हो गई है, वह आत्मा है; हम आत्मा के रोग से पीड़ित हैं। हमें शाश्वत में अपने मूल को खोजना होगा और अनुभवातीत सत्य में फिर विश्वास जमाना होगा, जिसके द्वारा जीवन व्यवस्थित हो जायेगा, विसंवादी तत्त्व अनुशासन में आ जाएंगे और जीवन में एकता आ जायेगी और उसका कुछ लक्ष्य बन जायेगा।"

हो रही, जिसके सहारे देश में ही क्या विश्व में एकत्व स्थापित किया जा सकता है।[1]

साहित्य रूप बदल सकता है परम्परा से विच्छिन्न नहीं हो सकता

इस शाश्वत सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिये हमें अपने समूचे पिछले साहित्य को समझ कर उसमें आगे की कड़ी जोड़नी होगी। यह विघटन और अव्यवस्था कोई नई बात नहीं है। देश का साहित्य समय-समय पर युग संस्कृति और सभ्यता की क्रिया प्रतिक्रिया से प्रतिबिम्बित हुआ है फिर भी अपनी अदम्य शक्ति और सामर्थ्य के बल पर बाह्य बाधाओं को नष्ट कर अस्त-व्यस्तता, शंका, भय और भटकन से मुक्ति पा सभी संस्कृतियों से अपने लिये भाव राशियों जुटाकर साधना के उच्च से उच्चस्तर सोपान की ओर बढ़ता रहा है।

डॉ० राधाकृष्णन, धर्म और समाज—पृष्ठ २४

१. "युद्ध का गम्भीरतर अर्थ यह है कि यह हमें मनुष्य की प्रकृति और उसकी सच्ची भलाई की उस अपूर्ण धारणा को हृदयंगम करने में सहायता दे, जिसमें हम सब भी अपनी विचार प्रणाली और अपनी जीवन प्रणाली के रूप में सम्मिलित हैं। यदि हम एक-दूसरे के प्रति दयालु नहीं हैं और यदि पृथ्वी पर शान्ति स्थापित करने के हमारे सब प्रयत्न असफल रहे हैं, तो उसका कारण यह है कि मनुष्य के मनों और हृदयों में स्वार्थ और द्वेष भरी रुकावटें हैं, जिनकी हमारी जीवन प्रणाली रोकथाम नहीं करती। यदि हम आज जीवन द्वारा तिरस्कृत हैं तो उसका कारण कोई दुष्ट भय नहीं है—हमारे सामाजिक जीवन ने हमें साधन तो दिये हैं, परन्तु लक्ष्य प्रदान नहीं किये। हमारी पीढ़ी के लोगों पर भयानक अन्धता छा गई है, जो शान्ति के दिनों में कठोर आर्थिक नियमों के द्वारा और युद्ध के दिनों में आक्रमण और क्रूरता द्वारा मानवीय कष्टों से जुआ खेलते नहीं हिचकिचाते—भौतिक द्वारा मानवीय की पराजय हमारी सभ्यता की दुर्बलता है।"

क्योंकि समूची जाति का विकास एक व्यक्ति के जीवन के विकास की भाँति होता है जिस प्रकार व्यक्ति विभिन्न विकास स्थितियों को पार कर निश्चित ध्येय तक पहुंचने के लिये उठता-गिरता, सुख-दुःख का सामना करता, सोचता-विचारता, परिवार समाज और देश की राजनीतिक व्यवस्था से आन्दोलित होता हुआ आगे बढ़ता है ठीक उसी प्रकार भारत देश भी विराट स्तर पर नाना अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में बनते, बदलते प्रत्येक युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक धार्मिक, साहित्यिक और कला संबंधी अवस्था से आन्दोलित होते हुए आगे बढ़ा और उसने साहित्य कला, धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण फल पाये हैं। यह हम जान ही चुके हैं कि हमारी भारतीय संस्कृति गतिशील रही है यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में महामानवता का पारावार है और पता नहीं किसके आह्वान और प्रेरणा से अनेक जातियाँ—मनुष्यता की धाराएँ—दुर्वार वेग से आईं और मानवता के इस महासमुद्र में खो गईं। हमसे कोई दूर नहीं है। हमारे रक्त में सबका रक्त मिला है।

> "तारा मोर माझे सवाई विराजे केहो नहे नहे दूर,
> आमार शोणित रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सूर।

साहित्य की व्यापक भावना का प्रसार और संस्थाएँ :

अतः हमारी संस्कृति व्यापक और उदार रही है और यह व्यापक और उदार भावना हमारे प्रत्येक युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई है। आज भी विदेशी विचारधाराएँ जो कुछ लाई हैं वह सबका सब परिहार्य नहीं है। उसमें जो कुछ श्रेष्ठ है भारतीयता के अनुरूप बनाकर ग्रहण करना चाहिये। अतः आज ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो साहित्य के प्रयोजन को समझें। संस्कृति के सही रूप को प्रतिष्ठित करें और ऐसा खोजपूर्ण साहित्य प्रकाशित करें जिसमें वर्तमान समाज को विघटन से बचाने की राह हो। पहले इस प्रकार की संस्थाएँ बहुत

कम थीं अब तो गली-गली में समितियाँ और संस्थाएँ देखेंगे। मेरा तात्पय इन आडम्बरपूर्ण संस्थाओं से नहीं है जहां फूलमाला पहनाकर भाषण करा के कर्तव्य की इति श्री समझ ली जाती है। भाषण तो उस महान् कार्यक्रम का अंश मात्र है। ये तो ऐसी संस्थाएँ हों जो युग चेतना को आत्मसात कर अपने कार्यक्रम के माध्यम से नितनूतन युग परम्पराओं को प्रसारित करें। युग चेतना को वहन कर जनसाधारण तक पहुँचाएँ। संस्कृति को विघटन से बचाकर दृढ़ बनायें। मनुष्य को पशु-सुलभ धरातल से ऊँचा उठायें। साथ ही विश्व-उन्नति की दौड़ में पिछड़ने से देश को बचाएँ। भाषा और साहित्य की प्रतिष्ठा बनायें। देशवासियों के सामने अपनी भाषा को सबल बनाने वाला ठोस कार्यक्रम रखें।

साहित्य की समृद्धि और प्रतिष्ठा के लिये अपनी भाषा प्रतिष्ठित हो :

साहित्य और भाषा को प्रतिष्ठित करने का प्रश्न भी आज महत्त्वपूर्ण है। मनोबल से बिना शस्त्रों के राजनीतिक क्षेत्र से हम विदेशियों को भगा सके हैं तो क्या स्वदेशियों के मन से विदेशी—भाषा और साहित्य का भूत न निकलेगा ? हिन्दी और हिन्दी साहित्य कोई ऐसी भाषा तो है नहीं, जिसे नये सिरे से गढ़ना है। इसका परितिष्ठित रूप भी बन चुका है लेकिन इसे और विकसित करने के लिये संस्कृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं की विचार सम्पत्ति और सुन्दर शब्द सम्पत्ति को उपलब्ध करना होगा। प्रान्तीय वैमनस्य दूर कर विदेशी भाषाओं के साथ प्रत्येक विश्वविद्यालयों में प्रान्तीय भाषाएँ पढ़ने की सुविधा भी होनी चाहिये। विदेशी भाषाओं के जो शब्द बोलचाल की भाषा के भण्डार को सम्पन्न कर रहे हैं उनका साहित्य में प्रवेश वर्जित न हो। अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं के साहित्य से श्रेष्ठताएँ ली जायँ लेकिन वह हीनता और आत्मचेतना को बढ़ावा देने के लिये नहीं।

फिर सबसे बड़ी बात है अपनी भाषा और साहित्य के प्रोत्साहन के लिये हमें सरकार का मुख नहीं जोहना है। आज तक राजशक्ति के सहारे हमारी भाषा नहीं बढ़ी है। भक्ति काल के संत किसी राज्य शक्ति के आश्रित नहीं थे। हमें साहित्यिक प्रयासों के बल पर सब कुछ पाना है। यदि हमने ऐसा साहित्य जनता के सामने रख दिया कि वह जनता में आत्मशक्ति जगाये और देश को गौरव प्रदान कर अन्य देशों की भाषा और साहित्य की समकक्षता में उपस्थित हो सके तो अवश्य ही एक दिन हमारा साहित्य और हमारी भाषा विजयिनी होगी !

दु:ख तो यह है कि अधिकांश प्रतिष्ठित साहित्यकार और शिक्षक नवीन साहित्य के नाम पर बिदकते हैं, उसका बहिष्कार कर रहे हैं। ये महान् शिक्षक पाठ्यक्रम में नव साहित्य को स्थान दें यह तो दूर की बात है। प्राचीन साहित्य का जो कुछ है वह भी घिसी–पिटी परम्परा में विद्यार्थियों के सामने रखा जा रहा है। दूसरी ओर नवयुवक साहित्यकारों का दल पाश्चात्य की उपासना करते-करते फ्रायड, युग एडलर, डी एच लारेन्स डास्टेवास्की इत्यादि की प्रवृत्तियों को अपनाता हुआ इलियट, सात्र कामुअ और काफ्का तक पहुँच गया है बड़ी उलझन-भरी स्थिति उत्पन्न हो गई है। कोई-कोई तो अच्छे से अच्छे सांस्कृतिक साहित्य में 'मृत्यु बोध' देखने का रोग लगा बैठे हैं। साहित्य न कोई वैज्ञानिक प्रयोगशाला है और न मनोतत्त्ववेत्ता का अस्पताल कि जिसमें मन की चीर-फाड़ होती रहे। न वह मन की दुर्बलताओं और नग्न वृत्तियों को प्रचलित करने का तुच्छ माध्यम है और न वह रूढ़ियों और पुरातनता की लकीर पीटने का साधन ही। साहित्य में तो मनुष्य को निम्न स्तर से हीन स्वार्थ से, प्रयोजानातीतता की ओर ले जाने, मानवता में हृदय की विशालता में बसुधा के बन्धुत्व में साराबोर कर देने की शक्ति होनी चाहिये। यदि मनुष्य को वह पशु-सुलभ धरातल से ऊँचा नहीं उठा सकता तो वह निरर्थक है। इसलिये आधुनिक भाव-बोध

को शाश्वत जीवन बोध से मिलाकर समुचित और सही—अर्थ में जन-जन तक पहुँचाने के लिये काशी नागरी प्रचारिणी सभा और साहित्य सम्मेलन प्रयाग जैसी उच्च आदर्शों वाली और भी अधिक संस्थाएँ प्रतिष्ठित होनी चाहिये। विश्वविद्यालय अपनी साहित्य समितियों के माध्यम से ठोस कार्यक्रम करें तो हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। आज कुछ विश्वविद्यालय इस दिशा में अच्छा कार्य कर भी रहे हैं जैसे दिल्ली विश्वविद्यालय से नवीन और प्राचीन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने वाला साहित्य प्रकाशित हो रहा है। प्रयाग और काशी के विश्वविद्यालय इस दिशा में गतिशील हैं। मैं उस दिन की कल्पना में दृढ़ आस्था बनाये हूँ जब प्रत्येक विश्वविद्यालय इस दिशा में कार्य करेगा तब पुन: भारतीय साहित्य संस्कृति और भाषा की पताका दूर देशों तक फहरायेगी। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की एक कविता के संकेतानुसार मनुष्य के हृदय में ही स्वर्ग का आवास है। मनुष्य जब उसे पहचान लेता है तब सभी विकृतियाँ और विषमताएँ, भेद और जीवन-मरण सब कुछ लय हो जाते हैं।

"इसलिये आज स्वर्ग मेरे शरीर में, मेरे प्रेम मेरे अनुराग में, मेरे मन के उच्छवासों में और मेरे अन्त:करण के सुख-दु:ख में व्याप्त हो गया है। जीवन और मरण की लहर पर वह नित नवीन रंगों से क्रीड़ा करता है।[1]

विश्वसाहित्य और चिरन्तन साहित्य

जब साहित्यकार उच्च आकांक्षाओं से पूर्ण होता है अपना लक्ष्य पहचान लेता है तब उसे यह विश्व मनुष्य के मन के मानसरोवर में तैरता हुआ कमल-सा जान पड़ने लगता है और तब अन्धकार के भीतर से हृदय को चीरता हुआ प्रकाश प्रकट होता है और वह प्रकाश गीत, आख्यान, नाटक, निबंध में जहाँ भी प्रकट होता है उसे आलोकित कर

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बलाका।

देता है । फिर यह साहित्य मनुष्य की उत्तेजना को आंसुओं की शीतल ओस से नहलाता है । मानव-मानव के बीच प्यार के स्वर्णिम पुष्प खिलते हैं और साहित्य का रस सबको निमज्जित कर निर्मल बना देता है । "जल-पौधों" के समान वह साहित्य फिर अचल नहीं रहता, समय के लहरों की गति के साथ नर्तन करता आगे बढ़ता है, समय प्रवाह में कुछ समय के लिये भले ही भटके लेकिन उसका प्रवाह रुकता नहीं । एक देश से दूसरे देश तक सभी दिशाओं में प्रवाहित होता है । इसलिये साहित्य और संस्कृति से हमें जो कुछ मिला है उसे हम नव-युग के संपर्क से सहस्त्र गुना वैभवशाली बनाकर देश को, विश्व को लौटायें, समस्त विश्व में फैलाएँ ऐसा प्रयास होना चाहिये । यह होगा तब जब सजग साहित्यकारों के स्वतन्त्र प्रयास और संस्थाओं का सामूहिक कार्यक्रम-दोनों की गति इसी एक लक्ष्य की ओर अभिमुख होगी !

संस्थाएँ

द्वितीय भाग

आधुनिक संदर्भ में संस्कृति, साहित्य और संस्थाएँ

आधुनिक काल में संस्कृति को विविध दिशाओं में प्रसारित करने के लिए दो मार्ग प्रमुख हैं—साहित्य और संस्थाएँ। इनमें संस्थाएँ संस्कृति का प्रचार भी करती हैं और साहित्य सृजन को भी प्रेरणा देती हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर सन् १९१९ तक भारतवासियों की यह धारणा हो गई थी कि भारतीय शासन में अंग्रेज़ कोई संशोधन नहीं करना चाहते अतएव उन्हें अपने बल और प्रयत्नों से ही स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करना होगा। भारतीय जनता में स्वातंत्र्य–उद्‌बोधन अंग्रेज़ों के विरुद्ध क्षोभ के रूप में तैयार हो गया था। जब स्वतंत्रता आंदोलन की बागडोर महात्मा गाँधी के हाथ में आई तब सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों का नेतृत्व पूर्व प्रतिष्ठित संस्थाओं को मिला परिस्थितिवश जिन संस्थाओं का सांस्कृतिक दृष्टिकोण निर्बल या क्षीण था उन्हें इस राजनीतिक क्षोभ ने बल देकर अग्रसर किया, जिनकी प्रेरणा से देश को नयी दिशा में लेचलने वाला नया साहित्य रचा गया। इन संस्थाओं में प्रमुख थी नागरी–प्रचारिणी सभा, काशी; दूसरी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; तीसरी, राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; चौथी, दक्षिणी भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास; पाँचवीं, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग; और छठी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।

: १ :

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा

काशी नागरी–प्रचारिणी सभा की स्थापना से पूर्व हिन्दी साहित्य की अवस्था उत्साहजनक नहीं थी। अपने देश में ही राष्ट्र भाषा उपेक्षित थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नये युग का प्रारम्भ तो अवश्य किया किन्तु साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में नवीन प्रेरणाओं और प्रयोगों का उपयोग नहीं हुआ था। काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध और समाचारपत्रों के अतिरिक्त साहित्य के अन्य क्षेत्र रिक्त थे। प्रेस तथा अर्थ के अभाव में हमारे प्राचीन विद्वानों का साहित्य भी अंधकार में था। वैज्ञानिक तथा उपयोगी विषयों पर साहित्य लिखा ही नहीं गया था। यहाँ तक कि कोई अच्छा शब्दकोश भी नहीं था। दर्शन, पुरातत्त्व, अन्य उपयोगी तथा विज्ञान-विषयक पुस्तकें हिन्दी में नहीं थीं। इन विषयों पर जो ग्रन्थ थे वे या तो संस्कृत में थे या अप्राप्य। उनकी खोज की आवश्यकता थी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में विभिन्न तथा बृहत कार्य थे जो किसी कार्यशील संस्था और विद्वान् व्यक्ति के उत्साह के अभाव में रिक्त पड़े थे। ये महत्त्वपूर्ण कार्य काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा सम्पादित हुए। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् १८९३ इसीलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्यामसुन्दरदास, रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार के प्रयत्न से इसी वर्ष काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। सभा की प्रगति और उसका इतिहास वस्तुतः हिन्दी का

इतिहास है ।[1] नाम से तो सभा का कार्य नागरी प्रचार प्रतीत होता है जो स्वयं अपने में महत्त्वपूर्ण कार्य है लेकिन सभा के सामने प्रारम्भ से ही विस्तृत तथा ठोस कार्यक्रम था । उसने हिन्दी साहित्य के प्रचार, प्रसार और निर्माण को अपने कार्यक्रम में प्रमुख स्थान दिया जिससे हिन्दी वाङ्मय सर्वांगपूर्ण बन जाये । सभा के इस नवीन कार्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

पहला—प्रचार कार्य जिसमें वे कार्य सम्मिलित हैं जो देवनागरी लिपि और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के लिए किये गये थे। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देवनागरी लिपि का विस्तार किया गया। अदालतों तथा दफ्तरों में नागरी लिपि का प्रचार किया गया तथा हिन्दी संकेत लिपि का निर्माण किया गया ।

नागरी-प्रचारिणी सभा का जन्म और विकास संघर्ष के बीच हुआ । १८३४ में अदालतों में देशी भाषा के प्रयोग की आज्ञा प्रचलित होने से लेकर १८९८ में प्रतिनिधि मंडल भेजने तक सभा को नागरी-लिपि के अदालतों में प्रवेश के लिए घोर संघर्ष करना पड़ा । अन्त में सन् १९०० में सरकार को बाध्य होकर १८ अप्रेल सन् १९०० में यह आज्ञा निकालनी पड़ी कि सभी अपनी इच्छा के अनुसार नागरी और फारसी लिपि में लिखकर प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं, सरकारी आदेश और सूचनाएँ नागरी और फारसी दोनों लिपियों में निकलेंगी तथा सरकारी कर्मचारियों के लिये नागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों का ज्ञान होना आवश्यक है । सभा में निरंतर संघर्ष से नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार के साधन जुटाये । कचहरी हिन्दी शब्द कोश भी प्रकाशित किया । साथ ही सभा ने जनता की उस परतन्त्र प्रवृत्ति को भी हटाने का प्रयास किया जिसके कारण वह जीविका प्राप्ति के लिए विदेशी

१. देखिये साप्ताहिक भारत पृष्ठ २ (रविवार सात मार्च १९५४)

शिक्षा प्राप्त कर अपनी भाषा और संस्कृति का महत्त्व भूल बैठी थी। सभा ने हिन्दी संकेत लिपि भी निकाली।

शोध और निर्माण कार्य—

शोध और निर्माण कार्य जिसके अंतर्गत (१) हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और उनकी सामग्री विवरण का प्रकाशन किया गया। (२) नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का प्रकाशन हुआ। (३) हिन्दी शब्द सागर तथा विभिन्न शब्द कोशों के निर्माण का आयोजन हुआ। (४) हिन्दी व्याकरण का निर्माण किया गया। (५) हिन्दी साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन का कार्यक्रम बना। (६) पुरस्कार योजना की गई। (७) हिन्दी साहित्य के इतिहास के निर्माण की आयोजना की गई तथा (८) विभिन्न पुस्तक मालाओं का प्रकाशन किया गया।

शोध तथा साहित्य निर्माण सभा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभा ने स्वयं कार्य किया तथा अन्य संस्थाओं को प्रेरित किया। अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों का पता लगाया गया, उनका विवरण तथा सूचियाँ प्रकाशित की गईं जिनसे विभिन्न भाषा-भाषियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। अनेक शोधक छात्र सभा के इन हस्तलिखित ग्रन्थों तथा उनकी रिपोर्टों से लाभ उठाते रहे हैं। सभा में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की सामग्री मिल जाती है इन हस्तलिखित ग्रन्थों की सहायता से लेखकों के जन्म, मृत्यु तथा लेखन की ठीक-ठीक तिथियों का पता चला है, जिससे हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में सरलता हो गई है। नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका अपने ढंग की एक मात्र पत्रिका है जिसमें हिन्दी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन, भारतीय इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले लेख तथा उस समय में प्रकाशित होने वाले साहित्य पर टिप्पणियाँ मिल जाती हैं। हिन्दी का सबसे प्रमाणिक कोश हिन्दी शब्द-सागर यहीं से

प्रकाशित हुआ है। इसमें ९३११५ शब्द हैं। इसे १९०८ से १९२९ तक परिश्रम करने के बाद लिखा गया है। यहाँ से वैज्ञानिक शब्द-कोश तथा कचहरी शब्द-कोश भी प्रकाशित हुए हैं। सभा द्वारा हिन्दी के प्रामाणिक व्याकरण का निर्माण कराया गया है।[1] विभिन्न आधुनिक विषयों को भारतीय ढंग से लिखकर हिन्दी को समृद्ध बनाने के लिए मनोरंजक[2], सूर्यकुमारी[3] और नागरी-प्रचारिणी[4] तथा देवीप्रसाद ऐतिहासिक[5] इत्यादि ग्रन्थ माला निकालीं तथा लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार निश्चित किये गये। यही सभा का नवीन कार्यक्रम है।

हस्तलिखित पुस्तकों की खोज—

१७८४ में विलियम जोन्स ने कलकत्ते में रायल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित कर सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज की ओर आकर्षित किया। १७८८-१८३९ तक जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी की बीस ज़िल्दें निकलीं जिसमें खोज सम्बन्धी लेख निकलते थे। यहाँ से हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का प्रारम्भ हुआ। कुछ ही दिनों में इसकी शाखा-प्रशाखाएँ देश-विदेश में

---

१. काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का अर्द्ध-शताब्दी इतिहास पृष्ठ २०२, २०३।

२. सन् १९४३ तक रामचन्द्र शुक्ल कृत 'आदर्श जीवन' जैसी ५४ आदर्श पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

३. सन् १९४३ तक गुलेरी ग्रन्थ भाग १ जैसी उच्च कोटि की १८ पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

४. तुलसीदास ग्रन्थावली और रासो जैसे विशाल ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

५. 'अशोक की धर्म लिपियाँ' 'बुंदेल खंड का संक्षिप्त इतिहास' जैसी १५ प्राचीन और बृहत् पुस्तकों का प्रकाशन हुआ।

स्थापित हो गईं।[1] १८६८ में भारत सरकार ने लाहौर निवासी पं० राधाकृष्ण के प्रस्ताव को स्वीकृत कर भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की खोज का कार्यक्रम निश्चित कर दिया और इस निश्चय के अनुसार अब तक संस्कृत पुस्तकों की खोज का काम सरकार की ओर से बंगाल की एशियाटिक सोसायटी, बम्बई और मद्रास की सरकारों तथा अन्य संस्थाओं और विद्वानों द्वारा निरंतर होता आ रहा है।[2]

---

१. चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की रिपोर्ट–भारतीय इतिहास संबन्धी ख़ोज और उसका फल, "इस प्रकार एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के द्वारा ऐशिया की प्राचीन खोज के विषय में यूरोप में भी जागृति हुई और उसी उद्देश्य से सन् १८२३ के मार्च में लंदन नगर में रॉयल एशियाटिक सोसायटी नामक समाज स्थापित हुआ। क्रमश: उसकी शाखायें सीलोन और बंबई में स्थापित हुईं ऐसे ही समय-समय पर जर्मनी, फ्रांस, इटली, ऐशिया आदि, यूरोप के अन्य देशों में तथा अमरीका, जापान आदि में ऐशिया संबंधी भिन्न-भिन्न विषयों की ख़ोज के लिये समाज स्थापित हुए, जिनके 'जर्नलों' (सामयिक पत्रिकाओं) में भारतवर्ष के प्राचीन खोज संबंधी विषयों पर अनेक लेख प्रकाशित होने लगे। यूरोप के कई विद्वानों ने चीनी, तिब्बती, पाली, फारसी आदि भाषाएँ पढ़कर उनमें से जो कुछ सामग्री एशिया और भारतवर्ष के इतिहास आदि पर प्रकाश डालने वाली थी उसे एकत्र करके प्रकाशित की थी।

२. प्रस्तावना लेखक श्यामसुन्दरदास हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण–पहला भाग (पहला संस्करण) काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

इसके अतिरिक्त रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की प्रेरणा से प्राचीन शिलालेख, दान-पत्र, सिक्के आदि की खोज भी प्रारम्भ हुई। फलस्वरूप प्राचीन लिपियों की खोज की जाने लगी। खोज कार्य करने वालों में चार्ल्स विल्किन्स तथा पंडित राधाकांत शर्मा का नाम उल्लेखनीय है।[1] ट्रायर और मिल ने भी चार्ल्स विल्किन्स को गुप्त लिपि की वर्णमाला पूरी करने में सहायता की। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों और सिक्कों की खोज का कार्य कर्नल टाड ने किया। उन्होंने विदेशी सिक्कों का भी संग्रह किया।[2]

कर्नल ए० कनिंघम ने उत्तर भारत में ऑरक्यॉलॉजिकल सर्वे नामक महकमे के द्वारा प्राचीन खोज सम्बन्धी रिपोर्टें प्रकाशित कीं। सन् १८८८ में एपिग्राफिया इण्डिका नामक त्रैमासिक-पत्रिका[3] छापी गई। इसमें केवल शिला-लेख और दान-पत्र प्रकाशित होते थे और दक्षिणी भारत में शोध कार्य डाक्टर वर्जेस ने किया।[4] साथ ही प्राचीन

---

१. चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पढ़ा गया निबंध।
भारतीय इतिहास संबंधी खोज और उसका फल।
"ई० सं० १८८५ में चार्ल्स विल्किन्स ने दीनाजपुर किले के बदाल स्थान पर बंगाल के राजा नागपाल के समय का लेख पढ़ा और पंडित राधाकांत शर्मा ने देहलाक फिरोज़शाह की अशोक के लेख वाली लाट पर खुदे हुए अजमेर के चौहान, राजा बीसल देव (विग्रह राज) "के वि० सं० १८२० के तीन लेख पढ़े"

२. देखिये वही, कर्नलटाड ने प्राचीन ग्रीक (यूनानी) शक पार्थियन और कुशांनवंशियों के सिक्कों का भी संग्रह किया था।"

३. देखिये निबंध, भारतीय इतिहास संबंधी खोज और उसका फल (चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पढ़ा गया निबंध)

४. १८७२ से डॉ० वर्जेस ने इण्डियन 'ऐन्टीक्वेरी' नामक पत्र निकाला जिसमें प्राचीन विजय, शिलालेख और दान पत्रों का विवरण है।

वस्तुओं के संग्रह के लिए सरकार की ओर से संग्रहालय स्थापित किये गये। सन् १८८८ तक सरकार की ओर से हस्तलिखित ग्रन्थों, दान-पत्रों शिलालेखों की खोज, संग्रह, उन पर रिपोर्टें प्रकाशित करने तथा खोज संबंधी पत्रिकाएँ निकालने का कार्य रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल के माध्यम से होने लगा था। फलस्वरूप यूरोप में उनकी सूचियाँ प्रकाशित की जा रही थीं। सरकार के इस प्रकार के प्रयत्न ने एक ओर यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों को खोजकार्य करने के लिए प्रोत्साहन दिया और हिन्दी की हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।[१] दूसरी ओर देशी रियासतों को इस कार्य के लिए प्रेरणा दी। इन रियासतों में प्राचीन ग्रन्थों के संग्रह तो पहले से ही थे,अब उनका अध्ययन, उनकी रिपोर्टों के प्रकाशन का कार्य भी प्रारम्भ हो गया। फलस्वरूप भारत के प्रत्येक प्रान्त में हिन्दी, संस्कृत तथा प्रान्तीय भाषाओं के ग्रन्थ खोज कर उनकी रिपोर्टें तैयार की गईं।[1]

सरकार के इस प्रारम्भिक प्रयत्न से अलभ्य पुस्तकों का संग्रह हुआ। सूचियाँ तैयार हुईं। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की शाखाओं द्वारा खोज कार्य पहले ही प्रारम्भ हो गया था।[२] खोज सम्बन्धी पत्रिकाएँ

---

१. देखिये वही, 'अमेरिका से हार्वड ओरिएंटल सीरीज़ और इंगलेंड की आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) से एनेकडोट ऑक्से-निएन्सिआ, नामक ग्रन्थावलियाँ निकलीं। ऐसे ही इंगलेंड, जर्मनी, फ्रांस, हालेंड, ऐशिया आदि, यूरोप के देशों की समितियाँ, पुस्तक प्रकाशकों या विद्वानों की ओर से अनेक अलभ्य पुस्तकें छप चुकी हैं और अनेक की यूरोप के अंग्रेज़ी आदि भाषाओ में अनुवाद भी छप चुके हैं।'

२. सोसायटी की बिब्लिओथेका 'इंडिका' नामक ग्रन्थ माला में अनेक ग्रन्थ छप गये हैं—ऐसे ही बंबई की गवर्नमेंट, माइसोर ट्रावनकोर, बड़ौदा, आनंदाश्रम (पूना) आदि की संस्कृत ग्रन्थ-मालाओं में एवं काशी पत्र आदि अनेक ग्रन्थ छप चुके हैं।

प्रकाशित भी होने लग गई थीं, लेकिन हस्तलिखित ग्रन्थों की बृहत् राशि से इतना-सा काम सागर में बूँद के समान था। खोज की प्रकाशित सामग्री की रिपोर्टें तथा विवेचन अधिकांश रूप से अंग्रेजी भाषा में हुआ। अब तक हिन्दी भाषा में इस प्रकार की खोज-रिपोर्टों का नितान्त अभाव था। यह बात नागरी-प्रचारिणी सभा के सभासदों ने सभा की स्थापना के समय (१८९३) से ही अनुभव करली थी। उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि स्थानों में बहुत से ऐतिहासिक तथा साहित्यिक हस्तलिखित ग्रन्थों की सामग्री व्यक्तिगत सम्पत्ति बनी हुई सुरक्षित रक्खी थी जिसे सर्व साधारण के सम्मुख उपस्थित कर उसकी साहित्यिक महिमा से परिचित कराना आवश्यक था। केवल रॉयल एशियाटिक सोसायटी के काम से सभा को सन्तोष नहीं हुआ। सन् १८९९ में सभा को चार सौ रुपये वार्षिक सहायता मिली, जिसके फलस्वरूप सभा ने अपने प्रयत्न से खोज रिपोर्टें प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। सभा की सर्वप्रथम खोज रिपोर्टें सन् १९०० में प्रथम बार निकलीं। प्रारम्भ में चार वर्ष तो वार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित होती रहीं। तत्पश्चात् त्रैवार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित होने लगीं। रिपोर्टों को प्रकाशित करने का कार्य बाबू श्यामसुन्दरदास ने प्रारम्भ किया, जो उस समय सभा के (सेक्रेटरी) सचिव थे। उन्होंने छः साल तक वार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित कीं और एक त्रैवार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित की। सन् १९०८ से लेकर सन् १९२० तक श्यामविहारी मिश्र ने रिपोर्टें लिखीं, इनके बाद दो वर्ष इनके भाई ने काम किया और फिर छोड़ दिया। आगे चल कर यह खोज-कार्य पण्डित हीरालाल ने सँभाला। इस प्रकार बड़े-बड़े विद्वान और मनीषियों द्वारा यह खोज-कार्य अविरल गति से सम्पन्न होता रहा।

अभी तक की खोज रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि सभी विषयों के ग्रन्थ मिले हैं। इनमें सबसे अधिक संख्या धार्मिक ग्रन्थों और शृंगार रस के ग्रन्थों की है। दर्शन, मनोविज्ञान, पिंगल तथा संगीत शास्त्रों पर भी

ग्रन्थ मिलते हैं। उपयोगी ग्रन्थों में वैद्यक, ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक तथा ज्योतिष ग्रन्थ भी मिलते हैं। इस प्रकार जो विषय आधुनिक युग की ही देन समझे जाते हैं वे हमारे पूर्व साहित्यकार पहले ही विस्तार से लिख गये हैं।

हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज से एक ओर तो बहुमूल्य और अप्राप्य पुस्तकों की प्राप्ति से हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि हुई, दूसरी ओर साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोण विषय और शैलियों के नये प्रयोग के लिये संकेत मिले। साथ ही विभिन्न युगों के इतिहास प्रकाश में आये। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज रिपोर्टें स्वयं ऐसी पत्रिकाएँ हैं जिनमें हस्तलिखित ग्रन्थों के संबंध में सही तथा सभी आवश्यक सूचनाएँ मिल जाती हैं एवं इन हस्तलिखित ग्रन्थों का आवश्यक तथा पूर्ण विवरण भी मिल जाता है। वे किस स्थान पर प्राप्त हो सकते हैं, कैसी दशा में हैं, उनका लेखक कौन है और उनमें किस विषय को किस दृष्टि से लिखा गया है, कौन से सन् में लिखी गई हैं आदि प्रश्नों का ठीक तथा उचित उत्तर इन हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज रिपोर्टों में मिलता है। साथ ही, जैसे-जैसे खोज रिपोर्टें निकलती गई हैं, इनकी शैली का स्तर उच्च विकासशील तथा साहित्योपयोगी होता गया है। इस प्रकार हिन्दी में अपने ढंग की ये विशिष्ट पत्रिकाएँ हैं।

इन रिपोर्टों के पीछे की ओर परिशिष्ट जुड़े हुए हैं। उनमें विभिन्न ग्रन्थों से उदाहरण दिए गए हैं। वे विषय, शैली तथा इतिहास आदि सभी दृष्टि से उपयोगी हैं।

पहले परिशिष्ट में लेखक के बारे में लिखा होता है। लेखक के जीवन तथा परिस्थितियों के संबंध में जितनी भी सूचना मिली होती है, उसका पूरा विवरण इसमें मिलता है तथा उसके साहित्यिक कार्य का पूरा विवेचन रहता है। दूसरे परिशिष्ट में अवतरण उद्धृत होते हैं जो लेखक विशेष की शैली या शैलियों का आवश्यक परिचय देते हैं। इन्हें

आलोचना साहित्य का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। परिशिष्टों के अन्त में उन सब पर लेखक का मत लिखा रहता है और इस प्रकार ये खोज रिपोर्टें खोज के विद्यार्थियों, प्रकाशकों तथा इतिहास प्रणेताओं तथा आलोचकों के अत्यन्त काम की हैं।

इन रिपोर्टों से हिन्दी के खोज-विद्यार्थियों को बहुत लाभ पहुँचा। इनसे सुगमता से ज्ञात हो जाता है कि पुराने ग्रन्थ कहाँ-कहाँ मिलेंगे और विद्यार्थी सरलता से मौलिक पुस्तकों को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार इन खोज रिपोर्टों ने हिन्दी में खोज विषयक कार्यों की प्रगति में सहायता पहुँचायी है।[१] प्रकाशकों को बड़ी सुविधा हो गयी है; वे सरलता से प्रकाशन के लिए प्राचीन साहित्य का पता लगा सकते हैं।

खोज रिपोर्टों ने हिन्दी साहित्यगत अनेक अशुद्धियों और भ्रमों को दूर किया है। बहुत से लेखकों की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ भ्रमात्मक रूप में प्रचलित हो गई थीं। दो-एक नाम तथा स्थान भी ग़लत प्रचलित हो गये थे।[२] किन्हीं ग्रन्थों का लेखनकाल अज्ञात था तो किन्हीं का लिपिकाल ठीक नहीं ज्ञात था। हस्तलिखित ग्रन्थों के खोज-कार्य की प्रगति के साथ-साथ ये साहित्यिक भ्रम तथा अशुद्धियाँ दूर होती जा रही हैं। अभी तक जो प्रारम्भिक साहित्य लिखा गया है, उसमें जो अशुद्धियाँ थीं वे इन खोज-रिपोर्टों के आधार पर ठीक करदी गईं और जो साहित्य के नये इतिहास लिखे गये, वे अधिक शुद्ध लिखे गये। इस प्रकार खोज-रिपोर्टों से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में सहायता पहुँची है।

---

१. श्यामसुन्दरदास, हस्तलिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण पृष्ठ ३।

२. रायबहादुर हीरालाल "The Eleventh Report on the search of Hindi Manuscripts for the year 1920, 1921, 1922 पृष्ठ २३।

खोज रिपोर्टों से हिन्दी साहित्य को जो विशेष उल्लेखनीय लाभ हुआ है, वह है हिन्दी साहित्यकारों में आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक दृष्टि-कोण की जागृति। अब कोई भी विद्वान् केवल विचारों अथवा सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सन्तुष्ट नहीं होता जब तक कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा उन साहित्यिक तथ्यों को पुष्ट नहीं किया गया हो। साथ ही खोज-रिपोर्टों के प्रारम्भ में जो आलोचनात्मक प्रस्तावनाएँ लिखी गयी हैं उनमें अन्वेषणात्मक पद्धति का विकास हुआ है।[१]

आदिकाल तथा मध्यकाल के बहुत युगों का इतिहास अंधकार में था। उस समय की संस्कृति के प्रामाणिक आधार हमें प्राप्त नहीं थे और ऐतिहासिक साहित्यकार कल्पनाओं और संभावनाओं के आधार पर विशिष्ट युगों की संस्कृति और सभ्यता का चित्र प्रस्तुत करते रहे, किन्तु हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज ने ऐतिहासिक साहित्यकारों को विभिन्न युगों के ऐतिहासिक तथ्यों को जानने में सहायता पहुँचाई है[२]। साथ ही शिलालेख[३] और दान-पत्र भी इस कार्य में बड़े सहायक हुए हैं। हिन्दी

---

१. रायबहादुर हीरालाल The Tenth Report on the search of Hindi Manuscripts for the year 1917, 1918, 1919

२. (क) नंददुलारे वाजपेयी, नागरी-प्रचारिणी-सभा-पत्रिका सं० १९८४ "मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था"

(ख) भगवतदत्त, काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा पत्रिका स० १९९२ "साहसांक विक्रम और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की एकता"

(ग) बुद्धप्रकाश, काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सं० २००३ अङ्क ४, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पश्चिमोत्तरी विजययात्रा

३. (क) वाकणाकर, काशी नगरी-प्रचारिणी पत्रिका सं० २००७, अङ्क ३ "धार से प्राप्त एक शिला लेख"

(ख) हेनरीहेरास, एस० जे० एम० ए० विश्ववाणी सं० १९४१ मार्च "मोहन जोदड़ो के शिला लेख"

के अतिरिक्त कन्नड़, तेलगू, तामिल आदि प्रान्तीय भाषाओं में भी गद्य और पद्य दोनों मिलते हैं। इन शिलालेखों में मौर्य, ग्रीक, सतकर्णी [आंध्र-भृत्य] शक, पार्थियन, क्षत्रप, कुशान, आभीर, गुप्त, हूण, वाकाटक, यौद्धेय, वैरू, लिच्छवी, मौखरी, परिव्राजक, राजर्षितुल्य, मेत्रक, भाट, चौहान, राठौर, कछवाहा, तेवर, कलचुरि त्रेकूटक, चद्रात्रय [चंदेल] यादव, गुर्जर, नाथ, मिहिर, पाल, सेन, पल्लव, चोल, कदैब, शिलाट, सैदक, काकतीय, नाग, निकुंम, वाण, गंगा, मत्स्य आदि राजवंशों का बहुत कुछ वृत्तांत उनकी वंशावलियाँ, अनेक राजओं और उनके सामंतों के राज्याभिषेक तथा देहान्त आदि के निश्चित संवत् मिल जाते हैं। ऐसे ही अनेक विद्वानों, धर्माचार्यों, दानवीर आदि प्रसिद्ध पुरुषों तथा अनेक विदुषी स्त्रियों आदि के नाम तथा उनके समय आदि का पता चलता है और हमारे यहाँ चलने वाले अनेक संवतों के प्रारम्भ का निश्चय होता है। इन खोजों के आधार पर अनेक प्राचीन वंशों के इतिहास लिखे गये, तथा ऐतिहासिक गद्य साहित्य के सृजन में सहायता मिली है।

बीकानेर के संग्रहालय में प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों की ख्यातों और बातों में राजस्थान के सांस्कृतिक वैभव के सूत्र मिलते हैं।

हस्तलिखित ग्रन्थों द्वारा राजस्थान के इतिहास को प्रकाश में लाने का कार्य कर्नल टॉड तथा एल० पी० टेसीटरी ने किया है। इन ग्रन्थों के द्वारा विभिन्न वर्गों के इतिहास, सभ्यता और संस्कृति को प्रकाश में लाकर ऐतिहासिक विषयों पर साहित्य सृजन की प्रेरणा दी गई तथा वंशावलियों के इतिहास लेखन की नई प्रणाली हिन्दी गद्य साहित्य में प्रचलित की गई।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य की खोज से ललित तथा उपयोगी दोनों प्रकार के साहित्य सृजन को प्रेरणा देने वाले तथ्यों, विषयों और पुस्तकों को प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य सभा ने किया।

इसके अतिरिक्त ये ग्रन्थ सामाजिक संस्कारों, सभ्यता और संस्कृति को प्रकाश में लाने में भी उपयोगी सिद्ध हुए जिससे हिन्दी गद्य इन गौरव-शाली सांस्कृतिक सूत्रों के वहन के योग्य बन सका। विभिन्न प्राचीन शिल्प तथा ललित कलाओं सम्बन्धी ग्रंथ भी प्राप्त हुए जिससे हमारे देश की ललित कलाओं का परिचय मिला और गद्य में इन विषयों की विवेचना हुई। वैद्यक शास्त्र की बहुत सी पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिससे वैद्यक विद्या को आगे प्रगति करने में सहायता मिली तथा उपयोगी गद्य साहित्य की परम्परा के प्राचीन-सूत्र प्रकाश में आए।

नागरी प्रचारिणी-पत्रिका की अन्वेषणात्मक सामग्री

सभा की स्थापना के तीन वर्ष बाद सन् १८९६ में नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन हुआ। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका इस युग की सम्पूर्ण पत्रिकाओं में प्राचीनतम पत्रिका है। अपने सिद्धान्तों को राष्ट्रव्यापी बनाने के लिये ही सभा ने इस पत्रिका का प्रकाशन किया। यह नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा के प्रचार के उद्देश्य से प्रारम्भ हुई थी। बाद में इसमें अन्वेषणात्मक सामग्री भी प्रकाशित होने लगी। इस सामग्री को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम प्रकार के लेख शुद्ध अनुसधान से संबंधित हैं जो शोध सामग्री के आधार पर लिखे गये हैं। इनमें भी तीन प्रकार के लेख पाये जाते हैं। प्रथम प्रकार के लेख शुद्ध ऐतिहासिक हैं और विभिन्न शिला-लेखों, दान-पत्रों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के अध्ययन के बाद लिखे गये हैं [1] और विभिन्न युगों के इतिहास संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं, जैसे दुर्गादास बी० ए० का लेख 'भारत की मुद्राओं और उन पर हिन्दी का स्थान' [2]

१. रायबहादुर हीरालाल, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा पत्रिका वैशाख कार्तिक 'हिन्दी के शिला-लेख और ताम्र-लेख।'

२. दुर्गादास बी० ए० काशी नागरी-प्रचारिणी सभा पत्रिका संवत् १९९७ भारत की मुद्राएँ और उन पर हिन्दी का स्थान।

भारत की विभिन्न कालीन मुद्राओं पर प्रकाश डालता है। गोरेलाल तिवाड़ी द्वारा लिखा गया बुन्देलखण्ड का इतिहास,[१] जायसवाल द्वारा लिखित कालिंग, चक्रवर्ती महाराज खाखेल के शिला-लेख का विवरण [२] आदि विशिष्ट युगों के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार के लेख पत्रिका में निकलते रहे जिनसे विभिन्न युगों की राजनीतिक [३], सामाजिक [४] तथा सांस्कृतिक [५] अवस्था का प्रामाणिक वर्णन मिलता रहा जिनसे इतिहास तथा साहित्य दोनों के विद्यार्थियों को सहायता मिली। ऐतिहासिक रचनाओं में अधिक प्रामाणिकता तथा स्वाभाविकता आने लगी। साथ ही इतिहास की ओर विद्वानों की अभि-रुचि हुई जिससे हिन्दी-गद्य में ठोस विचार पूर्ण सामग्री मिलने लगी।

दूसरी प्रकार के अन्वेषणात्मक लेख वे हैं जो शिला-लेखों, दान-पत्रों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर लिपि भाषा, शब्द तथा व्याकरण पर लिखे गये हैं। ये लेख लिपि-विज्ञान, भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण की रचना में सहायता पहुंचाते हैं, जैसे 'अपभ्रंश भाषा' [६]

---

१. गोरेलाल तिवाड़ी, का० ना० प्र० स० पत्रिका सं० १९८४ बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास।

२. जायसवाल का० ना० प्र० स० पत्रिका सं० १९८४ कालिंग चक्रवर्ती महाराज खाखले के शिला-लेख।

३. वासुदेव शरण अग्रवाल, का० ना० प्र० स० पत्रिका सं० २००१ स्वर्णदीप के शैलेन्द्र सम्राट् और नालंदा।

४. जयशंकर प्रसाद, का० ना० प्र० स० पत्रिका सं० १९१६ वैशाख–कार्तिक प्राचीन आर्यावर्त और उसकी प्रथाएं।

५. हजारीप्रसाद द्विवेदी, का० ना० प्र० स०, पत्रिका सं० २००२ विक्रम की छठी से पन्द्रहवी शती तक की धर्म साधना।

६. सत्यजीवन वर्मा का० ना० प्र० स० पत्रिका, स० १९८२ भाग ६ अपभ्रंश भाषा।

(लेखक–सत्यजीवन वर्मा), गढ़वाली भाषा के परवाणा कहावताँ, डिंगल भाषा (लेखक–गजराज ओझा), आदि लेख।

तीसरी प्रकार के अन्वेषणात्मक लेख वे हैं जो विभिन्न अप्राप्य पुस्तकों की खोज से संबन्ध रखते हैं अथवा ग्रन्थों की अप्रमाणिकता को लेकर लिखे गये हैं जैसे बिहारी सतसई संबन्धी साहित्य (लेखक–जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर), पद्मावत की लिपि तथा रचनाकाल (लेखक–चन्द्रवली पाण्डे) एक प्राचीन हिन्दी समाचार पत्र (लेखक कालीदास मंजी) तथा पृथ्वीराज रासो पर लेख (लेखक श्यामसुन्दरदास) पृथ्वीराज रासो की एक पुरानी प्रति (लेखक दशरथ शर्मा) आदि। इस प्रकार नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के ऐसे अन्वेषणात्मक लेखों ने बहुत से लेखकों और उनके समय का पता लगाया। इसी प्रकार के लेखों ने बहुत से संदिग्ध ग्रन्थों की प्रामाणिकता निश्चित की। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका की अन्वेषणात्मक सामग्री ने इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान किया, नये-नये ग्रन्थों और उनके लेखकों को खोज कर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की, प्राचीन इतिहास की खोज की तथा पुरातत्त्व संबन्धी विषयों की ओर जनता को आकर्षित किया। पत्रिका के प्रयासों से ही साहित्य के अधिकारपूर्ण इतिहास लिखने की सामग्री उपस्थित हुई तथा गवेष्णात्मक लेख प्रस्तुत किये गये जिनसे हिन्दी में शोध पूर्ण निबन्धों को प्रेरणा मिली। ये अन्वेषणात्मक निबन्ध उस आधुनिक खोज कार्य के पूर्वज कहे जा सकते हैं, जो विद्यालयों तथा संस्थाओं में हो रहा है। इस प्रकार शोध कार्य के प्रारम्भ करने, उसे उत्साहित करने और एक निश्चित मान उपस्थित करने का श्रेय नागरी-प्रचारिणी पत्रिका को है। इन गवेषणात्मक लेखों के अतिरिक्त विभिन्न अङ्गों की विवेचना तथा आलोचना संबन्धी लेख भी लिखे गये। इसमें भी दो प्रकार के लेख मिलते हैं।

प्रथम प्रकार के लेख वे हैं जो साहित्य के विविध अङ्गों के शास्त्रीय स्वरूप की विवेचना करते हैं। इसमें पौरस्त्य तथा पाश्चात्य, दोनों

शास्त्रीय दृष्टियों से साहित्य के अङ्गों का विवेचन किया गया है । इसमें रस, अलंकार आदि काव्यांगों तथा नाटक, उपन्यास, कहानी आदि गद्यशैलियों का शास्त्रीय विवेचन मिलता है । "व्यंजना अर्थ का व्यवहार है, शब्द का नहीं", इसमें शैली का शास्त्रीय विवेचन हुआ है । "पाणिनि और उनका शास्त्र" में पाणिनि के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है ।

दूसरी प्रकार के लेख आलोचनात्मक निबन्ध हैं जिनमें विभिन्न ग्रन्थों की अथवा किसी लेखक की शैली की उसके सभी ग्रन्थों के आधार पर आलोचना हुई है । इसका उदाहरण पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामायण, सूरसागर, बिहारी सत्सई, सेनापति के कवित्त आदि की आलोचना है ।

इन गवेषणात्मक लेखों के अतिरिक्त पत्रिका के अन्त में सामयिक साहित्य पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी रहती थीं । इन टिप्पणियों में सभा को समालोचनार्थ भेजी गई तथा उस वर्ष की अन्य पुस्तकों की आलोचना रहती थी । आधुनिक आलोचना का पूर्वरूप इन टिप्पणियों में देखा जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त पत्रिका के अन्त में उस वर्ष में प्रकाशित प्राचीन तथा नवीन साहित्य की सूची भी है । इस प्रकार प्रत्येक वर्ष के प्रकाशित साहित्य की सूची, उसकी आलोचना का इतिहास नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में मिल जाता है ।

अतः नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का प्रारम्भ भाषा के संरक्षण, प्रसार, हिन्दी साहित्य के अंगों का शास्त्रीय तथा आलोचनात्मक विवेचन तथा भारतीय संस्कृति, इतिहास और साहित्य के अनुसंधान के जिस महान् कार्य के लिये हुआ था, आज भी वह अपने इस दायित्व को अपने गौरव के अनुकूल निभाती आ रही है । पत्रिका के इस प्रयास से हिन्दी गद्य-क्षेत्र का विस्तार हुआ तथा विचार वैभव बढ़ा है ।

शब्दसागर का निर्माण :—

काशी नागरी सभा की स्थापना से पहले हिन्दी कोश के नाम पर गिनती की कुल सात-आठ पुस्तकें थीं[१] और जो थीं वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के राष्ट्रव्यापी रूप के लिये उपयुक्त नहीं थीं। इसके पश्चात् जब अंग्रेज भारत में जम गये तो उन्हें भाषा समझने में कठिनाई हुई। फलत: उन्होंने भी कुछ कोश लिखवाये जिनमें अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी में अर्थ लिखे हुए हैं। अंग्रेज़ी के सम्पर्क में आने से राजनीति तथा व्यापार सम्बन्धी नये शब्दों से परिचय हुआ। फिर अंग्रेज़ी शिक्षा और सम्पर्क से नये विषय और नई संस्कृति के अनेकानेक शब्द हिन्दी में आने लगे, जिनसे अनेकों विद्वानों को प्रेरणा मिली और हिन्दी कोश लिखे गये। इनमें "हिन्दी कोश" "केसर कोश" मधुसूदन निघंटु, शब्दार्श संग्रह और "श्रीधर भाषा कोश" उल्लेखनीय हैं। इनमें से कोई भी कोश ऐसा नहीं था जिसमें सभी शब्दों की व्याकरण सम्मत तथा विस्तार से व्याख्या की गई हो।

(सभा के सम्मुख जो कार्यक्रम था उसके लिये आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। सभा ने अर्थ के अभाव में श्रम से एक-एक करके

---

१. लेखक—रतनेश भट्ट, सम्मेलन पत्रिका, भाग ३७ संख्या ३, असाढ़ शुक्ल प्रतिपदा संवत् २००८ पृष्ठ ११९ लेख—हिन्दी कोश साहित्य और पारिभाषिक शब्द समस्या"।

१. 'नाम माला' (१६७०) ले० बनारसीदास २. 'अनेकार्थं नामावली' (१७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) ले० नाथ अवधूत। ३. 'अमर कोश भाषा' (सन् १७३५) ले० हरि जू मिश्र। ४. 'नाम माला' लेखक—बसहुराम। ५. 'उमराव कोश' ले० सीतापुर के श्री सुवंश। ६. 'शब्द रतनावली' (१८१२) ले० प्रयागदास भाट छतरपुर के। ७+८ 'नाम चिन्तामणी' और 'नाम रामायण' लेखक—छतरपुर के कवि नवलसिंह।

क्रमशः काम प्रारम्भ किये) । नागरी प्रचार के ध्येय को लेकर तो सभा की स्थापना ही हुई थी और अर्थ के अभाव में भी पत्रिका के प्रकाशन द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न किया गया।

पत्रिका प्रकाशन के चार साल पश्चात् सन् १९०० में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और उनकी रिपोर्टें निकालने के कार्य को हाथ में ले लिया गया, किन्तु सभा की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण कोश निर्माण के कार्य में आठ साल का और विलम्ब हुआ। सन् १९०८ में श्यामसुन्दरदास (सभा के प्रधान) के निरीक्षण में यह कार्य प्रारम्भ किया गया। उन्होंने कोश को पूर्ण बनाने के लिये अन्य विद्वानों की भी सहायता ली। इस कार्य में लगभग २२ साल का लम्बा समय लगा। इस बृहत् कोश में सब मिलाकर ९३११५ शब्दों का सग्रह है और इसीकी भूमिका स्वरूप रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमें प्रत्येक शब्द का समुचित व्याकरणात्मक परिचय दिया गया है और उसके सभी अर्थ संक्षेप में बताने का प्रयास किया गया है। (इस प्रकार का कोश हिन्दी साहित्य में नागरी-प्रचारिणी सभा ने ही सर्व प्रथम प्रकाशित किया)।

इसके अतिरिक्त सभा ने वैज्ञानिक शब्दकोश प्रकाशित किया। विशेष कला या शास्त्र संबन्धी कोश निर्माण का आरम्भिक श्रेय भी काशी नागरी-प्रचारिणी सभा तथा उसके प्रधान स्वर्गीय डा० श्याम-सुन्दरदास को है। यह कोश भी इनके सम्पादन में ही प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ६५५० शब्द हैं, जिनमें १००० शब्द ज्योतिष के हैं, ५५० भूगोल के तथा १३०० अर्थशास्त्र और ३७०० दर्शन शास्त्र सम्बन्धी हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक शब्दकोश तथा पारिभाषिक शब्द निर्माण, दोनों ही दिशाओं में यह प्रथम प्रयास है। कचहरी हिन्दी शब्दकोश भी सभा ने प्रकाशित किया, जिसमें कचहरी में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का संग्रह है। "इसका ध्येय कचहरियों में हिन्दी के प्रयोग को प्रोत्साहन

देना था। साथ ही हिन्दी भाषा तथा गद्य शैली को व्याकरण सम्मत शुद्ध और साहित्यिक बनाना था।

इस सभा के कोश निर्माण कार्य ने अन्य विद्वानों तथा संस्थाओं को भी कोश निर्माण के कार्य की प्रेरणा दी। इस कार्य को हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सर्वाधिक आगे बढ़ाया। इसका विवरण आगे सम्मेलन के विवरण के साथ किया जायगा।

हिन्दी शब्दसागर की प्रेरणा से या स्वतंत्र रूप से प्रकाशित होने वाले शब्दकोशों में 'शब्द कल्पद्रुम', 'मंगल कोश', शब्द पारिजात', 'संक्षिप्त शब्दसागर' और डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' द्वारा सम्पादित 'भाषा शब्द कोष' है।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से कई कोश प्रकाशित हुए। (१९०८–१९२०) में एक शब्दकोश श्री वैजवल्लभ ने प्रकाशित किया। इसमें व्यावसायिक, वैद्यक, व्याकरण और कानून संबन्धी शब्दों का संकलन है। भेषज संबन्धी एक कोश इटावा के श्री विश्वेश्वरदयाल वैद्य ने सम्पादित किया। सुख सम्पति भंडारी ने "दी ट्वंटीयथ सेंचुरी इंग्लिश–हिन्दी डिक्शनरी" निकाली। इसका प्रकाशन अजमेर से हुआ। इन शब्दकोशों में सबसे माननीय है नगेन्द्रनाथ वसु का 'हिन्दी विश्व-कोश' जो २५ बड़े-बड़े भागों में सन् १९१६ में कलकत्ते से छपा। डा० रघुवीर ने (The Great English Indian Dictionary) 'अखिल भारतीय शब्दकोश' प्रकाशित किया। इस प्रकार केवल १२ साल के समय में हिन्दी शब्दकोशों का निर्माण हुआ और यह कार्य हिन्दी विद्वानों के लिये प्रशंसनीय है। लेकिन आधुनिक परिस्थितियों में विज्ञान तथा अन्य शास्त्र जीवन के अभिन्न अङ्ग बन गये हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढ़ जाने से विभिन्न भाषाओं के शब्द अनुवाद द्वारा और संस्कृतियों के शब्द सम्पर्क द्वारा हमारी भाषा में आ गये हैं। फिर भी अभी ऐसा कोई भी कोश प्रकाशित नहीं हुआ है जो अपने में

पूर्ण हो। अन्य भाषाओं में साहित्य तथा विभिन्न विषयों के पृथक्-पृथक् कोश तो हैं ही, इसके अतिरिक्त विभिन्न शास्त्रों के तथा विभिन्न वैज्ञानिक विषयों के भी पृथक्-पृथक् शब्दकोश हैं। पशु, पक्षी, पौधे, पुष्प, बाग़बानी आदि जैसे विषयों के भी कोश इन भाषाओं में मिल जाते हैं। दूसरी ओर भूगोल, अर्थ शास्त्र, राजनीति, दर्शन-शास्त्र और सभी वैज्ञानिक विषयों के भी कोश मिल जाते हैं। किन्तु हिन्दी में अभी कोई भी कोश अच्छा नहीं कहा जा सकता। पुराने रचे हुए कोशों में परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता है। सन्तोष की बात है कि अब इस दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं और भारत सरकार की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य कोश (भाग १, २), भाषा-विज्ञान कोश, विश्व-कोश (७ भाग) एवं अन्य विषयों से संबन्धित प्रमाणिक कोश तैयार किये जा रहे हैं।

बनारस विश्वविद्यालय के कुछ विद्वानों ने "हिन्दू विद्युत् शब्दावली" प्रकाशित की है। इसमें पदार्थ विज्ञान, रसायन शास्त्र, गणित और ज्योतिष सम्बन्धी कई नये शब्दकोश लिखे गये हैं। प्रयाग की विज्ञान परिषद् ने भी वैज्ञानिक शब्दकोश प्रकाशित किया है। दयाशंकर दुबे तथा भगवानदास केला आदि के प्रयत्न से अर्थशास्त्र का कोश तैयार हुआ है और इन्होंने एक राजनीति कोश भी बनाया है। आकाश-वाणी शब्दकोश 'आल इण्डिया रेडियो' के प्रयत्न से तीन भागों में प्रकाशित सर्व साधारण को प्राप्त है। इन सब प्रयत्नों की प्रेरक और सहायक काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा है। सभा द्वारा तथा उसकी प्रेरणा द्वारा प्रकाशित शब्दकोशों से हिन्दी गद्य की भाषा और शैली का शब्दकोश बढ़ा, प्रमाणिकता आई और भाषा विविध विचारों की अभिव्यक्ति के योग्य हुई।

पुरस्कारों तथा पदकों की व्यवस्था :—

जिस प्रकार सभा ने शब्दकोश लिखने की व्यवस्था की उसी प्रकार हिन्दी साहित्य-भण्डार के प्रवर्धन के लिये **पुरस्कारों** की भी

आयोजना की। हिन्दी साहित्य के विभिन्न विषयों तथा अंगों में उच्च कोटि के ग्रन्थों के प्रवर्धन के उद्देश्य से नागरी-प्रचारिणी सभा ने सभी विषयों के श्रेष्ठ ग्रन्थों को पुरस्कार तथा पदक देने की व्यवस्था की है। इनकी निधियाँ अधिकांश रूप से 'ट्रेज़रर चेरिटेबल एंडाउमेंट्स' के पास सुरक्षित हैं।

इन पुरस्कारों का वितरण इस दृष्टिकोण से किया गया है कि हिन्दी भाषा, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, उपयोगी तथा साहित्यिक, सभी प्रकार की श्रेष्ठ पुस्तकों से समृद्ध होती रहे। साथ ही ऐसे पुरस्कार की भी व्यवस्था है जिससे चलचित्रों का स्वरूप भी साहित्यिक बन जाय। राष्ट्र भाषा के अतिरिक्त व्रज, राजस्थानी, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी आदि प्रान्तीय भाषाओं के लिए भी ऐसे पुरस्कारों की व्यवस्था की गई है जिनसे उन भाषाओं को प्रोत्साहन मिले।

उपयोगी तथा बौद्धिक गद्य साहित्य का हिन्दी में अब भी अभाव-सा है। जब नागरी-प्रचारिणी सभा की व्यवस्था हुई थी तब तो हिन्दी में उपयोगी साहित्य केवल नाम-मात्र के लिये था और जो था वह संस्कृत भाषा में था। इस बात को ध्यान में रखते हुए, सभा ने ६ पुरस्कार ऐसे निर्धारित किये जो प्रति चौथे वर्ष उपयोगी साहित्य की विभिन्न शाखाओं की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों पर प्रदान किये जाते हैं। इससे प्रोत्साहित होकर प्रति वर्ष विद्वान् लेखक सभा से पुरस्कार पाने की महत्त्वाकांक्षा में उपयोगी साहित्य का निर्माण करते जा रहे हैं।

उपयोगी साहित्य की वृद्धि करने वाले पुरस्कार निम्नलिखित हैं:—

(१) राजा बलदेवदास बिड़ला पुरस्कार तथा रेडिचे रौप्य पदक

बिड़ला पुरस्कार दो सौ रुपयों का है, जो प्रति चौथे वर्ष अध्यात्म, योग, सदाचार, मनोविज्ञान और दर्शन के सर्वोत्तम ग्रन्थ पर दिया जाता

है। इसके साथ रेडिचे रौप्य पदक भी दिया जाता है। इससे हिन्दी गद्य में इन विषयों से संबंधित पुस्तकों की वृद्धि हुई है।

(२) छन्नूमल पुरस्कार तथा ग्रीव्स पदक :

श्री रामनारायण मिश्र की दी हुई निधि से एक २०० रुपयों का पुरस्कार (छन्नूमल पुरस्कार) प्रति चौथे वर्ष विज्ञान की पुस्तकों पर दिया जाता है और इस पुरस्कार को प्राप्त करने वाले ग्रन्थ पर चाँदी का ग्रीव्स पदक भी दिया जाता है। परिणामस्वरूप हिन्दी में विज्ञान से संबंधित साहित्य भी लिखा जाने लगा है।

(३) जोधसिंह पुरस्कार तथा गुलेरी रौप्य पदक :

जोधसिंह पुरस्कार भी दो सौ रुपयों का है और यह गुलेरी रौप्य पदक के साथ-साथ सर्वोत्तम ऐतिहासिक ग्रन्थ पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है। इससे ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

(४) मांडलिक पुरस्कार तथा वासुमति पदक :

मध्य भारत के श्री कृष्णचन्द्रजी मांडलिक ने सभा को १७०० रुपये दिये हैं, जिसके ब्याज से २०० रुपयों का एक पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है। यह उस विद्वान् को मिलता है जो स्वतन्त्र भारत के उत्थान और विकास को प्रेरित करने वाला सर्वोत्तम ग्रन्थ सृजन करता है। इस पुरस्कार को पाने वाले को एक वासुमति पदक भी दिया जाता है।

(५) डॉ० हीरालाल स्वर्ण पदक :

यह पदक पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, हिन्द विज्ञान (इंडोलोजी), भाषा विज्ञान तथा पुरालिपि शास्त्र (एपीग्राफी) संबंधी हिन्दी में लिखित सर्वोत्तम मौलिक पुस्तक अथवा गवेषणात्मक निबंध पर प्रति दूसरे वर्ष दिया जाता है।

इन पुरस्कारों ने पुरातत्त्व, मुद्रा शास्त्र, हिन्दी विज्ञान, भाषा विज्ञान, पुरालिपि शास्त्र, मनोविज्ञान, अध्यात्म, योग, सदाचार, दर्शन, विज्ञान, इतिहास, ग्रहशास्त्र, राजनीति आदि से संबंधित साहित्य को बढ़ाया है। इनके अतिरिक्त ललित साहित्य को प्रोत्साहन देने वाले पुरस्कार भी रखे गये हैं। ये कुल चार पुरस्कार और पदक हैं। इनका वितरण इस प्रकार किया गया है कि हिन्दी साहित्य में उपन्यास, नाटक, ब्रज तथा सभी प्रान्तीय भाषाओं में कविता तथा साहित्य के सभी अंगों में श्रेठ पुस्तकों की वृद्धि हो। इन पुरस्कारों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया है:—

(१) श्री बटुकप्रसाद पुरस्कार :

यह पुरस्कार दो सौ रुपयों का है और सुधाकर रौप्य पदक के साथ-साथ, सर्वोत्तम मौलिक नाटक या उपन्यास के लिये प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है। इनके द्वारा अनेकानेक नये नाटकारों और उपन्यासकारों को प्रेरणा मिली है।

(२) रत्नाकर पुरस्कार तथा राधाकृष्णदास पदक :

रत्नाकर पुरस्कार के रूप में दो सौ रुपये प्रति चौथे वर्ष ब्रज भाषा के सर्वोत्तम ग्रन्थ के रचयिता को दिये जाते हैं और साथ में लेखक को राधाकृष्ण पदक भी प्रदान किया जाता है।

(३) द्विवेदी स्वर्ण पदक :

उपरोक्त पुरस्कारों के अतिरिक्त एक स्वर्ण पदक प्रति वर्ष हिन्दी में लिखित सर्वोत्तम पुस्तक के रचयिता को प्रदान किया जाता है। यह पदक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की दी हुई निधि की आय से दिया जाता है।

इन पुरस्कारों ने ललित साहित्य में गद्य और पद्य दोनों प्रकार की सुन्दर रचनाओं में वृद्धि की है। इनके अतिरिक्त सभा ने डा० श्याम

सुन्दरदास की पुण्य स्मृति में सौ रुपये तथा दो सौ रुपये के दो पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष देने का निश्चय किया है। यह प्रति चौथे वर्ष ऐसे लेखकों की सर्वश्रेष्ठ कृतियों पर दिया जायगा जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी न हो तथा जो प्रधानतः अहिन्दी भाषी प्रान्त में निवास करते हों। संवत् २००३ तक प्रकाशित रचनाएँ विचाराधीन हैं। इस पुरस्कार ने अहिन्दी भाषी प्रान्तों के निवासी विद्वानों में हिन्दी में ग्रन्थ सृजन करने की प्रेरणा दी है।

चल चित्र साहित्य पदक :

आज कल चलचित्रों का स्तर बहुत गिर गया है। उनको साहित्यिक स्तर पर लाने के लिये अर्धशती भूषण पदक निर्धारित किया है। प्रति वर्ष निर्मित होने वाले चलचित्रों को एक-एक पदक निम्नलिखित विषयों का सर्वोत्तम संपादन होने पर दिया जाता है—

(१) कहानी, (२) वार्तालाप और भाषा, (३) पुरुष पात्र का अभिनय, (४) स्त्री पात्र का अभिनय, (५) फोटोग्राफी, (६) गान विद्या, (७) गीत, (८) निर्देशन, (९) कला तथा, (१०) वर्ष की सर्वोत्तम कृति। इस पदक ने चलचित्रों के संचालकों की दृष्टि कलात्मक तथा साहित्यिक स्तर तक ले जाने को ओर करदी है। इन पुरस्कारों के अतिरिक्त माधवी देवी महिला पुरस्कार, रत्नाकर पुरस्कार, बाल साहित्य पुरस्कार है जिनका ललित गद्य के वैभव से विशेष संबन्ध नहीं है। इसलिये हमने उनका उल्लेख विस्तार से करना उचित नहीं समझा है।

इसके अतिरिक्त भविष्य के विद्वान तैयार करने के लिये सभा ने परीक्षाओं की व्यवस्था की है और उनमें विशेष योग्यता प्राप्त करने वाले विद्यार्थी के लिये पुरस्कार भी रखे हैं प्रथमा और रत्न की परीक्षाओं में सर्वप्रथम आने वालों को एक-एक पुरस्कार दिया जाता है—

(१) भैरवप्रसाद स्मारक पुरस्कार :

प्रति वर्ष अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा में उत्तर प्रदेश में सर्वप्रथम आने वाले विद्यार्थी को भी पुरस्कार दिया जाता है ।

(२) पुच्छरत पदक :

प्रति वर्ष यह रजत पदक पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी रत्न परीक्षा में सर्वप्रथम आने वाले छात्र को दिया जाता है ।

पुरस्कारों की प्रेरणा से जो उपयोगी और ललित बौद्धिक साहित्य लिखा गया उससे हिन्दी-गद्य का विस्तार हुआ, विचार वैभव बढ़ा तथा विषय की दृष्टि से भी विविधता आई है । इससे पहले बँधी-बँधाई परम्परा के अनुसार कुछ विषयों को लेकर बौद्धिक निबंध अवश्य लिखे गये थे, अन्य विषयों से संबंधित कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी थी । इस अभाव की पूर्ति पुरस्कारों की प्रेरणा से हुई और पुस्तक मालाओं ने इसमें पूर्ण सहयोग दिया ।

मनोरंजक पुस्तकमाला आदि का प्रकाशन :

नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन, पुरस्कारों और परीक्षाओं की व्यवस्था तथा हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज रिपोर्टों के अतिरिक्त, सभा ने कुछ पुस्तकमालाएँ भी प्रकाशित करने की व्यवस्था की है, जिनमें से अधिकांशत: दान के धन से चलाई जाती हैं । इनके प्रकाशन की व्यवस्था हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठ पुस्तकों के प्रचलन और प्रवर्धन के लिये की गई है । सभा से लगभग १५ पुस्तकमालाएँ प्रकाशित होती हैं जिनमें प्राचीन तथा नवीन साहित्य की, उपयोगी तथा ललित, दोनों प्रकार की पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है । इन पुस्तकमालाओं के प्रकाशन में सभा का दृष्टिकोण प्रारम्भ से यह रहा है कि जितनी भी प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व तथा ललित साहित्य की पुस्तकें हैं,

उनका प्रकाशन और प्रचलन हो, तथा पश्चिमी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा से जो साहित्य लिखा गया है उसका भारतीय दृष्टिकोण से सृजन हो।

मनोरजक पुस्तकमाला की स्थापना भी सभा ने इसी उद्देश्य से की थी। इस पुस्तकमाला में लगभग ५५ पुस्तकें छप चुकी हैं।

(१) हिन्दुस्तान (पहला खंड) :

इसमें भारतवर्ष का वर्णन तथा उसका इतिहास है। अभी तक भारत का इतिहास अंग्रेज़ी की बड़ी-चड़ी पुस्तकों में सम्मिलित था। ये पुस्तक भारत की साधारण जनता को उसकी भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी अवस्थाओं से परिचित कराने और जलवायु, वनस्पति का ज्ञान कराने के लिये लिखी गईं। अन्य देशों में वहाँ की देश भाषा में ऐसी पुस्तकें विद्यमान हैं जिनमें इन सब विषयों का वर्णन होता है। हिन्दुस्तान में, हिन्दुस्तान के विषय में, हिन्दी भाषा में इस पुस्तक के प्रकाशन से पहले ऐसी एक भी पुस्तक नहीं मिलती। इस पुस्तक ने जो मार्ग तैयार किया है वह दिशा विशेष में बहुत प्रेरक और आशाजनक है।

इस खंड में हिन्दुस्तान की प्राकृतिक ऐतिहासिक अवस्था का वर्णन किया गया है। इन दोनों भागों की सामग्री हिन्दुस्तान के इम्पीरियल गजेटियर भाग १–४ से संग्रह करके लिखी गई है, तथा शासन प्रणाली के वर्णन में और ग्रन्थों से भी ली गयी है।

इन पुस्तकों में भारतीय जनता को देश की स्थिति का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही देश के बारे में यूरोपीय विद्वानों की सम्मति भी ज्ञात होती है। पहले भाग में पवन विद्या, वनस्पति विद्या, जंतु विद्या, भाषाओं, धर्मों और देशवासियों का विवेचन हुआ है। दूसरे भाग में अभिलेख तत्त्व, ऐतिहासिक समय से पहले की पुरानी चीजें, मुद्रा तत्त्व,

हिन्दुस्तान की वस्तु-विद्या, संस्कृति, साहित्य तथा देश भाषाओं के साहित्य का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार भारत के महापुरुषों के जीवन से परिचित कराने के लिये 'गुरु गोविन्दसिंह', 'भीष्म पितामह', 'महादेव गोविन्द राणाडे', 'बुद्ध देव', वीरमणि नेपोलियन बोनापार्ट आदि के जीवन चरित्र प्रकाशित किये। हिन्दी में जीवनी-साहित्य का बड़ा अभाव था। मनोरंजक पुस्तकमाला द्वारा सभा ने इसकी पूर्ति करने की चेष्टा की। राजनीतिक पुस्तकों में 'सिक्खों का उत्थान-पतन', 'शासन पद्धति', 'लाल चीन' आदि हैं। इसी प्रकार इसमें अन्य धार्मिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा पुरातत्त्व संबन्धी पुस्तकें निकली हैं।

नागरी-प्रचारिणी ग्रन्थ माला :

उत्तर प्रदेशीय सरकार इस ग्रन्थमाला के संचालन के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करती है। अब तक इसमें जो ग्रन्थ छप चुके हैं उनमें भी ललित तथा उपयोगी सभी प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इसके अतिरिक्त प्रकीर्णक पुस्तकमाला, सूर्यकुमारी पुस्तकमाला, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला, बालाबक्श राजपूत-चारण-पुस्तक-माला, देव पुरस्कार पुस्तकमाला आदि हैं जो मनोरंजक पुस्तकमाला की ही तरह हिन्दी साहित्य के रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिये स्थापित की गई हैं। श्री महेन्द्रलाल गर्ग विज्ञान ग्रन्थावली ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों के प्रकाशन के लिये स्थापित हुई है।

श्री रूक्मिणी तिवारी पुस्तकमाला :

रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला, अर्द्धशती पाक्षिक ग्रन्थ-माला, राजस्थानी साहित्य रक्षा निधि आदि पुस्तकमालाओं ने मिल कर हिन्दी में उन सभी विषयों के साहित्य का प्रचलन और प्रकाशन किया है जो अन्य भाषाओं के साहित्य में पाया जाता है और हमारे

यहाँ उसका नितान्त अभाव था। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की परम्परा भी काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से ही प्रारम्भ हुई। यहाँ से 'कोशोत्सवस्मारक संग्रह एवं द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' प्रकाशित हुए। एक और महत्त्वपूर्ण बात सभा के इतिहास से ज्ञात हुई है कि सरस्वती-पत्रिका की स्थापना भी सभा की सहायता और अनुमोदन से हुई थी। प्रारम्भिक संपादक श्री श्यामसुन्दरदास सभा द्वारा ही निर्वाचित हुए थे। इनके सहयोगी संपादक किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथप्रसाद बी. ए. और राधाकृष्णदास थे। दूसरे और तीसरे वर्ष अकेले श्यामसुन्दरदास ने ही संपादन कार्य किया और चौथे वर्ष श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके संपादक नियत हुए। तीन वर्ष (१९०३—१९०५) तक सरस्वती का संबंध सभा से रहा फिर वह स्वतन्त्र रूप से साहित्य जगत् के सामने आई और महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादन काल में इसके द्वारा हिन्दी साहित्य क्षेत्र में युगान्तर स्थापित हुआ एवं साहित्य क्षेत्र के बहुत से अभावपूर्ण अंगों की पूर्ति हुई। साथ ही साहित्य के बहुत से ऐसे तथ्य भी प्रकाश में आये जो इतिहास सृजन में सहायक हुए।

हिन्दी साहित्य का इतिहास :

सभा के अनुसंधानात्मक प्रयत्न एवं हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज तथा पुस्तकमालाओं के प्रकाशन ने हिन्दी के विद्वानों के सामने अशोक की धर्म-लिपियों से लेकर मुग़ल दरबार तक के और राजपूत चारण कवियों के लिखे हुए उन आधारभूत ग्रन्थों की प्रामाणिक सामग्री उपस्थित की जिनसे हिन्दी-साहित्य को पुनः निर्मित करने में सहायता मिली।

सभा की स्थापना से पहले हिन्दी-साहित्य की सामग्री इधर-उधर विकीर्ण थी। विदेशियों की बात तो छोड़ दीजिये, हमारे देशवासियों को भी यह ज्ञात नहीं था कि हिन्दी-साहित्य के भण्डार में कैसी अपूर्व निधियाँ भरी पड़ी हैं। इस अज्ञता को दूर करने के लिये हिन्दी-साहित्य

का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी और सभा ने इसकी ओर सबसे पहले ध्यान दिया। इससे पहले, सभा के खोज प्रयत्नों की सहायता से लिखे जाने वाले इतिहासों में शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखित शिवसिंह 'सरोज' (संवत् १९४०) गार्सी दा तासी का "इस्त्वार दला लितेरात्यूर एँदुई ऐं ऐन्दुस्तानी" ग्रियर्सन का 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर' (Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan–संवत् १९४६), ई० ग्रीब्ज़ का 'स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर' (Sketch of Hindi Literature) हैं। लेकिन इनमें प्रामाणिकता की दृष्टि से बहुत सी त्रुटियाँ हैं। इन सबके पश्चात् सबसे प्रामाणिक मिश्र बन्धुओं द्वारा लिखित "मिश्रबन्धु विनोद" (इतिहास) है। जो संवत् १९७० में प्रकाशित हुआ। किन्तु इसमें भी कवियों और तिथियों के संबन्ध में भ्रांतियाँ हैं जो हस्तलिखित ग्रन्थों की आधुनिक खोजों ने दूर की हैं। इस ग्रन्थ का आधुनिक काल से संबन्धित भाग संवत् १९९१ में प्रकाशित हुआ। अभी तक साहित्य का कोई भी ऐसा इतिहास नहीं था जिसमें प्रामाणिक सामग्री, वैज्ञानिक विभाजन और निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टिकोण रहा हो। यह कार्य, सभा के निरीक्षण तथा संचालन में, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुआ।

शुक्ल जी के इतिहास में प्राप्त प्रायः सभी सामग्री प्रामाणिक है। कुछ त्रुटियों को छोड़ कर काल विभाजन वैज्ञानिक है। जिस काल में भी और जहाँ आचार्य शुक्ल प्रवृत्तियों के सूत्र मिले हैं, वहाँ उन्होंने उनको स्पष्ट कर दिया है। जैसे भक्तिकाल में भक्ति की विभिन्न शाखाओं का उल्लेख किन्तु प्रवृत्तिसाम्य और युग के आधार पर कवियों को वर्ग में रख कर वे उलझन में पड़ गये और अनेक अच्छे कवि फुटकर खाते में आ गये। शुक्लजी का यह विभाजन पूर्ण व्यावहारिक नहीं है। इन्होंने आदिकाल का समुचित निरिक्षण नहीं किया। ये जैन, नाथ और सिद्ध इत्यादि के साहित्य को धार्मिक साहित्य कह कर प्रचारात्मक

मानते थे। फलतः आदिकाल के साहित्य का बहुत बड़ा अंश उपेक्षित रह गया, जिसका पुनर्मूल्यांकन और समीक्षण आचार्य हज़ारीप्रसाद द्वारा हुआ और इनका यह शोधग्रन्थ 'आदिकाल' नाम से राष्ट्र-भाषा-प्रचार परिषद्, पटना से प्रकाशित हुआ है। आधुनिक काल के कुछ कवियों के साथ शुक्लजी ने न्याय नहीं किया लेकिन इसका कारण था। आधुनिक काल में छायावाद इत्यादि प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ ही हुई थीं। उनका चरम विकास देखे बिना उनसे संबन्धित न्यायोचित सम्मति स्थिर नहीं की जा सकती थी। फिर भी शुक्लजी ने मिश्र बंधुओं द्वारा प्राप्त सामग्री में यत्र तत्र तिथि, स्थान और ग्रन्थ संख्या संबन्धी संशोधन किये। उन्होंने कवियों के जीवन का शुष्क इतिहास देने अथवा ग्रन्थ-सूची गिनाने के स्थान पर कवियों और लेखकों की साहित्यिक सामर्थ्य का स्पष्टीकरण किया। साहित्य से उचित उदाहरण छाँट कर प्रस्तुत किये। इससे पहले केवल कालपरक विभाजन हुआ था; इन्होंने भावपरक विभाजन पर भी ध्यान दिया। ऐतिहासिक प्रवाह भी दिखाया। लोक मंगल की भावना को कसौटी मानकर विभिन्न कालों की तुलनात्मक श्रेष्ठता प्रतिपादित की और उन्होंने इतिहास को अपनी रस दृष्टि से जीवंतता प्रदान कर साहित्य बना दिया।

शुक्लजी के इतिहास के बाद श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' डा० सूर्यकान्त शास्त्री का हिन्दी साहित्य का 'विवेचनात्मक इतिहास', कृष्णशकर शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', हरिऔधजी का 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' तथा डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक साहित्य' (भारतेन्दुकाल) और श्रीकृष्णलाल का 'आधुनिक साहित्य का विकास' (द्विवेदी काल) निकल चुके हैं। फिर भी शुक्लजी के इतिहास की अपनी विशेषताएँ हैं। उन्होंने कवियों तथा लेखकों का केवल जीवन-वृत्त और इतिहास

विवरण ही नहीं दिया वरन् उनकी भाषा के गुण दोष, उनकी सूक्तियाँ और भाव सौंदर्य का भी उल्लेख किया है। इतिहास के साथ ही सिद्धान्तों का प्रतिपादान भी किया है। उन्होंने अपने इतिहास में जो कहा है वह तर्क, प्रमाण और विश्वास के साथ कहा है। आधुनिककाल में जो कुछ वर्षों से साहित्य को लेकर सूक्ष्म-विश्लेषण और विवेचनपूर्ण साहित्य के विविध अंगों और रूपों का इतिहास लिखने की परम्परा चली है, वह शुक्लजी द्वारा स्थापित परम्परा का विकसित रूप है। साहित्य के इतिहास में शुक्लजी सदा अग्रणी और पथ-प्रदर्शक माने जायेंगे।

बौद्धिक साहित्य का उदय !

नागरी-प्रचारिणी सभा के इस बहुमुखी कार्य से हिन्दी-गद्य के ललित रूप को तो निखार मिला ही, बौद्धिक साहित्य को भी प्रोत्साहन मिला। हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में विभिन्न ग्रन्थ प्रकाश में आये जिनसे बौद्धिक साहित्य के विकास की सभावनाएँ प्रस्तुत हुईं। व्याख्यानमालाओं ने विविध विषयों से संबन्धित भाषण प्रस्तुत कर बौद्धिक साहित्य को विकसित होने का सुयोग प्रदान किया। विभिन्न पुरस्कारों का आयोजन ही हिन्दी की प्रगति के लिये हुआ। ये पुरस्कार इतिहास, व्याकरण, विज्ञान विषयक लेख, मनोविज्ञान, स्वस्थ्य-विज्ञान संबन्धी पुस्तकों पर दिये गये पुरस्कारों से तथा पुस्तकमालाओं के प्रकाशन से तीव्र गति से हिन्दी के क्षेत्र में बौद्धिक साहित्य लिखा जाने लगा। इसके अतिरिक्त सभा के द्वारा उपयोगी ठोस साहित्य का भी निर्माण हुआ। इसमें सभा द्वारा सम्पादित ग्रन्थ साहित्य की स्थायी सम्पति भी आती है।

पुरस्कारों की प्रेरणा से जो उपयोगी और ललित बौद्धिक साहित्य लिखा गया उससे हिन्दी गद्य का विस्तार हुआ, विचार वैभव बढ़ा तथा विषय की दृष्टि से भी विविधता आई। इससे पहले बँधी-बँधाई परम्परा के अनुसार कुछ विषयों को लेकर बौद्धिक निबंध अवश्य लिखे

गये थे किन्तु अन्य विषयों से संबन्धित कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी। इस अभाव की पूर्ति पुरस्कारों की प्रेरणा से हुई और पुस्तकमालाओं ने इसमें पूर्ण सहयोग दिया। इस प्रकार सभा ने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के प्रकाशन, शब्दकोश निर्माण, प्राचीन ग्रन्थों के संपादन, प्रकाशन, इतिहास निर्माण, पुस्तकमालाओं के प्रकाशन से साहित्यकारों को सृजन की प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान कर देश को साहित्यिक दृष्टि से संपन्न बनाया और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की पुनीत परम्परा को प्रतिष्ठित किया। इतना ही नहीं अपनी जैसी ही एक और संस्था को जन्म दिया जो समुचित सहयोग से सभा के कार्य को आगे बढ़ा सके वह है हिन्दी, साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

: २ :

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

हिन्दी की दूसरी प्रमुख संस्था जिसने हिन्दी गद्य के वैभव, विस्तार और विकास में योग दिया वह है हिन्दी साहित्य सम्मेलन। यह संस्था नागरी–प्रचारिणी सभा की तरह ही हिन्दी भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाली अखिल भारतीय संस्था है। इसकी स्थापना ९ अक्तूबर सन् १९१० ईस्वी में हुई। इसका कार्य दो भागों में विभाजित है–(१) साहित्य विभाग, (२) प्रचार विभाग।

(१) साहित्य विभाग :

साहित्य विभाग के अन्तर्गत, साहित्य के निर्माण, संरक्षण और प्रकाशन का कार्य आता है। साहित्य संरक्षण के लिये सम्मेलन ने संग्रहालय, ग्रन्थागार तथा प्रयोगशाला की स्थापना की हैं तथा अन्य संस्थाओं को संग्रहालय स्थापित करने की प्रेरणा दी है। हिन्दी साहित्य के अपूर्ण अंगों के विकास के लिये 'साहित्य सम्मेलन' का यह प्रयत्न सराहनीय है। इसने साहित्य निर्माण और भारतीय अनुशीलन की प्रतिष्ठा की है। सम्मेलन के संरक्षण में ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें लिखी गई हैं। नये तथा प्राचीन साहित्य का अध्ययन हुआ है। विभिन्न प्रकार की पुस्तकों पर पुरस्कार देकर हिन्दी गद्य की विभिन्न शैलियों के संशोधन में सहायता दी है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और शोध पर भी

पूर्ण ध्यान दिया गया है। विभिन्न विषयों से संबंधित कोश प्रकाशित कर हिन्दी गद्य की भाषा को समृद्धशाली बनाने में सहयोग दिया है। सम्मेलन का लक्ष्य हिन्दी गद्य की, साहित्य की नयी शाखाओं को प्रोत्साहन देते हुए पल्लवित करना है।

साहित्य विभाग ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध और सर्वप्रिय बनाने, उसके अपूर्ण अंगों को पूर्ण करने, कला और साहित्य के विविध अंगों को प्रस्तुत करने तथा प्राचीन साहित्य के संकलन और सम्पादन करने का अभूतपूर्व कार्य किया। साहित्य के संकलन, संरक्षण, सम्पादन और शोध-कार्य के लिये एक संग्रहालय की आवश्यकता थी। यह बात हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन में किये गये निश्चय के फलस्वरूप एक संग्रहालय की स्थापना हुई। इसके दो उद्देश्य हैं—(१) अभी तक के प्राचीन तथा नवीन संपादित तथा हस्तलिखित साहित्य का संकलन करना, तथा (२) उसमें से अच्छे से अच्छे ग्रन्थों का सम्पादन करना। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने इस विभाग को समुन्नत करने में सहायता पहुँचाई है। सग्रहालय की स्थापना से हिन्दी में शोध कार्य को प्रोत्साहन मिला। सरलता से एक ही स्थान पर समस्त साहित्य का संग्रह प्राप्त होने के कारण जिज्ञासु अधिक से अधिक संख्या में आकर शोधपूर्ण साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। बहुत से अप्राप्य ग्रन्थ जो सभी स्थानों पर प्राप्त नहीं हो सकते, वे आसानी से संग्रहालय में प्राप्त हो जाते हैं, बहुत से अच्छे-अच्छे साहित्यकारों की प्रतिभा केवल अपने ही प्रान्त तक सीमित रहती थी, लेकिन संग्रहालय ने ऐसा प्रबन्ध किया है कि जो भी हिन्दी साहित्य की नवीन पुस्तक प्रकाशित होती है, उसकी एक प्रति सम्मेलन में अवश्य रहती है और इस प्रकार बहुत से साहित्यकार जो सुयोग्य होते हुए भी अज्ञात रह जाते थे, अब प्रतिभा-प्रकाशन का अवसर पाने लगे। अतः संग्रहालय की स्थापना से हिन्दी साहित्य के जिज्ञासुओं एवं सृष्टाओं, दोनों को सुविधा प्राप्त हुई। इस संग्रहालय ने विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों एवं कलाकारों को हिन्दी के प्रति आकृष्ट किया।

साहित्य के निर्माण और अभिवृद्धि के लिये अनुशीलन का प्रतिष्ठान हुआ है। इसमें विद्याओं की नवीन शाखाओं की एवं ज्ञान-विज्ञान की गवेषणा संबंधी पुस्तकें लिखी जाने की व्यवस्था की गयी है। नवीन ज्ञान-विज्ञान का भारतीय दृष्टि से समीक्षण तथा समन्वयात्मक दृष्टि से निर्माण किया जा रहा है। विभिन्न युगों में भारत तथा अन्य देशों के भूगर्भ, भूतत्त्व, वृक्ष, वनस्पति, जीव जन्तु-जलवायु, जनता, भाषा और बोलियों, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दशा, कृषि, शिल्प, कला, व्यवसाय, व्यापार, राजसंस्था, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, आचार-विचार तथा लोक जीवन का शृंखलाबद्ध अध्ययन कर उन पर पुस्तकें लिखी जा रही हैं।

इसके अतिरिक्त हमारे साहित्य में ज्ञान-विज्ञान के गंभीर तथा उपयोगी साहित्य का नितान्त अभाव है। ऐसी पुस्तकों के लिखवाने की व्यवस्था साहित्य सम्मेलन ने की है। सीतामन्ड नरेश ने वायु विज्ञान लिखा है। अन्य विज्ञानों और शास्त्रों पर भी ऐसी ही पुस्तकें लिखने का प्रोत्सा-हन दिया जा रहा है। हस्तलिखित ग्रन्थों पर शोध कार्य भी इसी विभाग में होता है। उनका शुद्ध तथा प्रामाणिक संस्करण निकालने की भी व्यवस्था हो रही है। इस प्रकार साहित्य सम्मेलन का साहित्य विभाग ज्ञान-विज्ञान एवं नवीन विद्याओं (जैसे अर्थ शास्त्र, राजनीति, दर्शन शास्त्र आदि) पर मौलिक साहित्य सृजन करने की प्रेरणा दे रहा है।

साथ ही अन्य भाषाओं में लिखित सभी विषयों की उच्च कोटि की सभी पुस्तकों का अनुवाद कराने की व्यवस्था भी सम्मेलन ने की है। फलस्वरूप साहित्य के विभिन्न विषयों तथा नवीन विद्याओं की उच्चकोटि की पुस्तकों के अनुवाद हुए। शैलियों के संशोधन की आयोजना भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बनाई।

साहित्य प्रकाशन :

नव निर्मित एवं प्राचीन साहित्य के प्रकाशन के लिये साहित्य

सम्मेलन ने अपने सम्पादन विभाग की स्थापना की है। इस विभाग के अन्तर्गत खोज द्वारा प्राप्त प्राचीन पुस्तकों, मौलिक ग्रन्थों और अनूदित कृतियों के प्रकाशन का प्रबन्ध होता है। इसके अतिरिक्त साहित्य सम्मेलन के अनुशीलन विभाग की प्रेरणा से जो साहित्य लिखा जाता है, उसका सम्पादन भी यहीं से होता है। हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर भारत के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं साहित्य पर सम्मेलन द्वारा लिखी पुस्तकों का प्रकाशन भी यहीं से होता है। फलस्वरूप यहाँ से इतिहास, धर्म, राजनीति, अर्थ शास्त्र तथा ज्ञान-विज्ञान की गंभीर पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था हो रही है। इसके अतिरिक्त सम्मेलन के साहित्य समृद्धि कार्य में हिन्दी भाषा के शब्दकोश के निर्माण का कार्य विशेष उल्लेखनीय है, जिसका विवरण नीचे दिया जा रहा है:—

कोश निर्माण :

विभिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्दों के गढ़ने तथा पुस्तकों के सम्पादन के लिये एक अलग विभाग है। हिन्दी में उच्चकोटि के साहित्य निर्माण एवं ज्ञान-विज्ञान संबंधी साहित्य रचना में उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अभाव के कारण बड़ी कठिनाई होती थी। अभी तक काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्दसागर तथा विज्ञान कोश के अतिरिक्त कोई अच्छा कोश देखने में नहीं आता। उसमें भी अब परिवर्तन परिशोधन की आवश्यकता है। अन्य कोश जो स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुए हैं वे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के शब्द कोश के परिवर्धित संस्करण मात्र हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने कोश निर्माण कार्य को अपने हाथ में लिया है। शुद्ध विज्ञान और कला के अन्य विषयों पर पारिभाषिक शब्दों का निर्माण अन्य संस्थाएँ कर रही हैं। इसलिये साहित्य सम्मेलन ने व्यावहारिक विज्ञान की २३ शाखाओं के शब्दों का काम हाथ में लिया है। इस वैज्ञानिक पारिभाषिक कोश को छै जिल्दों में प्रकाशित करने की

योजना है। इसमें चिकित्सा, विज्ञान, इंजीनियरिंग, भूगर्भ, मनोविज्ञान, रसायन, कृषि आदि के शब्द होंगे। इनमें प्रचलित जन शब्द रखने की ही कोशिश की है। अप्रचलित शब्द संस्कृत से लाने का प्रयास होगा। अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान के शब्द जैसे टेलीफून आदि, ज्यों के त्यों ले लिये जायेंगे।

सन् १९४८ में शासन शब्द कोश यहाँ से प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन राहुल सांकृत्यायन तथा माधवे विद्या विशारद ने किया। यह कोश सभी प्रान्तों के विद्वानों द्वारा प्रशंसित हुआ। यहीं से प्रत्यक्ष शरीर कोश (Dictionary of Anatomy) छपा है। भाषा विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान और भू-विज्ञान शब्दकोश भी तैयार किये जा रहे हैं। अन्य विषयोंपर भी कार्य हो रहा है। भूगोल शब्दकोश का कार्य डा० रामनाथ दुबे (अध्यक्ष भूगोल विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) को सौंपा गया है। अर्थशास्त्र शब्दकोश का भार प्रयाग विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के अध्यापक और सम्मेलन के साहित्य मंत्री श्री दयाशंकर दुबे को सौंपा गया है। समाचार शब्द कोश का डा० सत्य प्रकाश ने सम्पादन किया और इसका प्रकाशन साहित्य सम्मेलन से हुआ है।

शासन, प्रत्यक्ष शरीर, तथा सामाचार शब्द कोश प्रकाशित हो चुके हैं। दर्शन, भाषा विज्ञान, चिकित्सा, भू-विज्ञान, भूगोल तथा जीव रसायन शब्दकोश प्रकाशित करने की योजना बनाई हुई है। इसके अतिरिक्त कृषि, उद्योग, रसायन, कांच, खनिज, तेल आदि पर शब्द एकत्र करने की भी व्यवस्था की जा रही है। आशा है बहुत शीघ्र ही ये कोश तैयार हो जायेंगे। इस प्रकार कोश साहित्य के प्रकाशन में साहित्य सम्मेलन सबसे अधिक सक्रिय रूप से कार्य कर रहा है।

सम्मेलन की मुख्य पत्रिका :

साहित्य सम्मेलन ने अपने सिद्धान्तों तथा उनकी अनेक प्रवृत्तियों के प्रचार व अपने कार्यों के लिखित विवरण रखने के लिये सम्मेलन

पत्रिका का प्रकाशन किया। सन् १९१३ में सम्मेलन पत्रिका का प्रथम अंक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कार्य समिति की ओर से निकला। इसके सम्पादक श्री गिरजाकुमार घोष थे। यह पत्रिका त्रैमासिक है। इसकी विषय सूची में भारतीय जीवन,[1] कला,[2] संस्कृति,[3] दर्शन,[4] विज्ञान,[5] पद्य[6] तथा गद्य[7] साहित्य की आलोचना, भाषा सुधार

---

१. सं० श्री रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका भाग ४०, संख्या १, पौष शुक्ल प्रतिपदा, २०१०, लेखक श्रीहरि एम. ए., भारतीय जीवन का चित्र पृष्ठ ३९।

२. सं० रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका, भाग ३९, संख्या १, पौष शुकल प्रतिपदा, सम्वत् २००९, कुमारी कान्ति द्विवेदी, भारतीय नृत्य में भावाभिव्यञ्जना, पृ० ७९।

३. सं० रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन पत्रिका, भाग ४२ संख्या १, पौष शुक्ल प्रतिपदा संवत् २०१२ लेखक रतनचन्द्र अग्रवाल, भारतीय संस्कृति के उपासक विदेशी यवन शक तथा हूण, पृष्ठ १३।

४. (संपादक का नाम अस्पष्ट है) सम्मेलन पत्रिका, भाग ३६, संख्या १–३, कार्तिक पौष सं० २००५, लेखक महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र एम. ए. डी. लिट, दर्शन परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया भाषण, पृष्ठ ११४, १२५ !

५. सम्मेलन पत्रिका, वही अंक, लेखक आयुर्वेदाचार्य श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर, अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण, पृष्ठ १२७–१३२।

६. सं० रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका भाग ४० संख्या १, पौष शुक्ल प्रतिपदा, २०१० लेखक रमाशंकर तिवारी विद्यापति का माधुर्य भाव, पृष्ठ १८।

७. सं० रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन भाग पत्रिका ४३ संख्या १, पौष शुक्ल प्रतिपदा सं० २०१३ लेखक देवर्षि सनाढ्य, हिन्दी के पौराणिक नाटकों का अध्ययन, पृ० ३

तथा निर्माण[1] संबंधी लेख निकलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य पर परिचयात्मक और आलोचनात्मक लेख भी रहते हैं।[2] लोक साहित्य को प्रकाशन में लाने का श्रेय भी इस पत्रिका को है।[3] अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य तथा लेखकों की विचारधारा[4] और प्रवृतियों से संबंधित लेखों ने भारतीय गद्यकारों को अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की विशेषताओं से परिचित करा हिन्दी गद्य को उन्नत और समृद्ध बनाने की प्रेरणा दी है। प्राचीन भाषा संस्कृति और साहित्य का परिचय भी इस पत्रिका में रहता है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर निकलने वाले इस पत्रिका के विशेषांक साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। अतः यह स्पष्ट है कि यह सम्मेलन पत्रिका स्वयं गद्य साहित्य के वैभव का अंग है और गद्य के वैभव और विकास में प्रेरणा देने वाली भी है।

सन् १९६४ से सम्मेलन 'माध्यम' पत्रिका प्रकाशित हो रही है, जिसके सम्पादक बालकृष्ण राव हैं। यह पत्रिका आधुनिक काल के भाव बोध और नये साहित्य को हमारे सम्मुख रख रही है। इसके माध्यम से हम नये हिन्दी—साहित्य की प्रवृत्तियों से ही परिचित नहीं हो रहे हैं वरन् सभी प्रान्तों के समकालीन साहित्य का परिचय भी इसमें मिलता है।

---

१. सं० रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका, भाग ४० संख्या १, किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी शब्द निर्माण, पृष्ठ ४५
२. सं० रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका, वही अंक, राजशेषगिरि राव एम. ए. आंध्रदेश के यक्ष—गान, पृष्ठ ५७
३. सं० रामनाथ सुमन, सम्मेलन पत्रिका, सं० २०१० (लोक-संस्कृति विशेषांक-सम्पूर्ण)।
४. सं० राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन, साहित्य सम्मेलन पत्रिका भाग ३७, संख्या १, भारतेन्दु अंक, भारतेन्दु और पुश्किन। पृष्ठ ६६

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता के इस युग में भी साहित्य सम्मेलन अग्रणी है।

(२) प्रचार विभाग और उसका विस्तृत कार्यक्रम:—

साहित्य सम्मेलन ने चालीस वर्ष के अल्प समय में ही हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार एवं साहित्य सृजन के द्वारा देश की अपूर्व सेवा की है। इसके प्रचार विभाग का कार्य प्रशंसनीय है, जो पाँच विभागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी प्रचार—हिन्दी प्रचार के लिये देश-भर में देवनागरी लिपि के प्रचार की व्यवस्था की गई। इसके लिये राष्ट्र भाषा प्रचार समितियों की स्थापना हुई तथा अहिन्दी भाषी प्रदेशों में साहित्यिक संस्थाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया गया।

(२) परीक्षाओं की व्यवस्था तथा हिन्दी विद्यालयों की स्थापना की गई।

(३) पुरस्कारों की व्यवस्था हुई।

(४) साहित्य सम्मेलनों का आयोजन—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्मेलनों की स्थापना की गई। विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों एवं कलाकारों को राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति आकृष्ट करके उन्हें समन्वय के मंच पर एकत्रित करने की चेष्टा की जाती है। भिन्न-भिन्न स्थानों में वार्षिक सम्मेलन का आयोजन किया जाता है।

(५) सांस्कृतिक उत्सवों का आयोजन—साहित्य को चेतन एवं समृद्ध बनाने तथा सामाजिक एकता और सौहार्द बढ़ाने के लिये उत्सवों का आयोजन किया जाता है।

प्रचार विभाग के कार्यक्रम के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवरण

अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी भाषा का प्रचार तथा परीक्षाओं की व्यवस्था :

सम्मेलन की स्थापना के समय हिन्दी की दशा दयनीय थी। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के अतिरिक्त अन्य कोई संस्था ऐसी नहीं थी जो हिन्दी के उत्थान के लिये सक्रिय रूप से प्रयत्न कर रही हो। सम्मेलन का जन्म नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रयत्नों से ही हुआ था। अत: सम्मेलन ने सभा के ही कार्यों को आगे बढ़ाया। हिन्दी की जिस साहित्य श्री का शोध तथा निर्माण सभा कर रही थी उसे जन-जन तक पहुंचाने का कार्य सम्मेलन ने अपनाया। हिन्दी प्रचार का सर्वसुलभ साधन था परीक्षाओं की स्थापना। फलत: भारतवर्ष के कोने-कोने में सम्मेलन की इन परीक्षाओं के केन्द्र तथा राष्ट्र भाषा प्रचार समितियों की स्थापना हुई जिनके द्वारा हिन्दी साहित्य का प्रचार हुआ।

सन् १९१४ में हिन्दी के विद्वान् भी कम मिलते थे क्योंकि आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से लोकरुचि अंग्रेज़ी और फारसी की ओर ही थी। हिन्दी बहुत कम लोग पढ़ते थे। इसलिए इस संस्था ने अपनी विशिष्ट परीक्षाएँ निर्धारित कीं और उनके पाठ्यक्रम के लिये पुस्तकें निर्माण कराने की योजना बनाई। हिन्दी भाषी जनता में सरलता और सुविधा के आकर्षण के कारण ये परीक्षाएँ शीघ्र ही लोकप्रिय हो गईं। राष्ट्रभाषा प्रचार समितियों की स्थापना से इन परीक्षाओं का प्रचार अहिन्दी भाषी प्रदेशों में भी हो गया।

इन परीक्षाओं की व्यवस्था के लिये प्रयाग में हिन्दी विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। इस विद्यालय में प्रथमा से लेकर साहित्य रत्न

तक की परीक्षा ली जाने लगी। इन परीक्षाओं के केन्द्र समस्त भारत के अधिकांश प्रमुख स्थानों में प्रसारित हैं।

उत्तमा परीक्षा इस विश्वविद्यालय की सबसे बड़ी परीक्षा है। इसमें एम. ए. की तरह किसी भी एक विषय में परीक्षा दी जा सकती है। इसकी स्थापना से यह लाभ हुआ कि इतिहास, भूगोल, राजनीति, संस्कृत, पाली, पुरातत्त्व, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, गणित, विज्ञान, कृषिशास्त्र आदि की उच्चतम परीक्षाएँ हिन्दी में होने लगीं और इन परीक्षाओं के स्तर के योग्य उच्चकोटि की पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई जिससे इस भाषा में गम्भीर विषयों की पुस्तकों का प्रवर्धन हुआ। इस प्रकार सम्मेलन ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी को राष्ट्र लिपि बनाने की स्वभाविक संभावना उपस्थित की और आज हम देखते हैं कि भारत जैसे विस्तृत और विशाल देश में हिन्दी भाषी और अहिन्दी भाषी दोनों प्रकार के प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार हो गया है। लेकिन अब भी मंज़िल दूर है। हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई है, उसे राज्य-भाषा बनाना है।

परीक्षाओं द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लाभ के अतिरिक्त अन्य लाभ भी हुए। हिन्दी की साहित्य श्री से हिन्दी भाषी तथा अहिन्दी भाषी दोनों ही परिचित हुए। अभी तक हिन्दी भाषा अंग्रेज़ों के प्रभाव के कारण तथा अहिन्दी भाषी हिन्दी भाषा से अपरिचित होने के कारण इसके साहित्य को हीन समझा करते थे। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोजों में इस भ्रम को पर्याप्त मात्रा में दूर करने का प्रयास किया, लेकिन यह प्रयत्न हिन्दी के विद्वानों तक ही सीमित रहा। जब सम्मेलन की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में हिन्दी गद्य की अच्छी-अच्छी पुस्तकें चुन कर रखी गईं, तो बंगाल, महाराष्ट्र, मद्रास, गुजरात, पंजाब, उत्कल सिंध, बलूचिस्तान, बर्मा, मलाया आदि प्रदेशों में हिन्दी के प्रति श्रद्धा, सहानुभूति और जिज्ञासा जाग्रत हुई। लोग हिन्दी की मौलिकता

स्वीकार कर उसके अध्ययन मनन का प्रयास करने लगे। अन्य भाषाओं के विद्वान भी हिन्दी की ओर आकर्षित हुए।

इन परीक्षाओं का पाठ्यक्रम हिन्दी का प्राचीन तथा नवीन, दोनों प्रकार का साहित्य था। फलस्वरूप भारत के प्राचीन समृद्ध साहित्य का भण्डार भारतीय जनता के सामने प्रकट हुआ। इनसे हिन्दी की उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा जाग्रत हुई, हिन्दी के उच्चकोटि के विद्वान तैयार हुए और सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि नवीन विद्याओं का हिन्दी साहित्य में समावेश सम्भव हुआ। नवीन विद्याओं की भी शिक्षा परीक्षा जब सम्मेलन के संरक्षण में हिन्दी में होने लगीं तो इन विद्याओं की पुस्तकें भी हिन्दी गद्य में लिखी गईं और हिन्दी गद्य साहित्य ज्ञान विज्ञान संबन्धी नवीन विद्याओं की शाखाओं से पल्लवित हुआ। साथ ही नवीन विद्याओं की पुस्तकें अंग्रेज़ी में लिखी होने के कारण और इस भाषा का समुचित ज्ञान न होने से जो बहुत से लोग इन विद्याओं को सीख ही नहीं पाते थे, वे अब तर्क शास्त्र, विज्ञान, तत्त्वज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, नागरिकशास्त्र आदि नवीन विद्यायें हिन्दी में पढ़ाई जाने के कारण सरलता से सीखने लगे।

साहित्य सम्मेलन की इन परीक्षाओं ने हिन्दी साहित्य को सर्वांगीण बनाया, उसे राष्ट्रभाषा बनने की स्थिति तक पहुँचाया, देवनागरी लिपि को राष्ट्र लिपि बनाया और जनता को प्रबुद्ध बनाया। विभिन्न भाषाओं के विद्वानों को राष्ट्र भाषा की ओर आकर्षित किया और देश-देश में, प्रान्त-प्रान्त में, यहाँ तक कि गांवों में भी हिन्दी के विद्यालय बनाने का प्रोत्साहन दिया। विश्वविद्यालयों ने भी राष्ट्रभाषा के उद्धार और समृद्धि की ओर अपना ध्यान लगाया। सम्मेलन ने अपनी प्रचार समिति के द्वारा देश के समस्त राज्यों में, प्रान्तीय समितियाँ स्थापित की हैं जो बड़ी तत्परता से हिन्दी भाषा और लिपि

का प्रचार कर रही हैं। इनके उद्योग से असंख्य विद्यार्थी प्रति वर्ष सम्मेलन की परीक्षाओं में बैठते हैं।

पुरस्कारों की व्यवस्था :

सम्मेलन द्वारा आयोजित परीक्षाओं ने हिन्दी भाषा के चहुँमुखी प्रचार और उसकी ज्ञान वृद्धि में सहायता पहुँचा कर विद्वानों की संख्या बढ़ाईं। इन विद्वानों को साहित्य निर्माण में प्रोत्साहित करने के लिये और साहित्य के स्तर को उत्कृष्ट बनाने के लिये, पारितोषिक देने का क्रम चलाया गया। सम्मेलन द्वारा आयोजित ये पारितोषिक विभिन्न विषयों की श्रेष्ठ पुस्तकों पर दिये जाते हैं। ये सम्मेलन के वार्षिक अविवेशन में, उसके अध्यक्ष द्वारा प्रदान किये जाते हैं। इनमें मंगलप्रसाद पुरस्कार, सेकसरिया महिला पुरस्कार तथा राधामोहन गोकुलजी पुरस्कार प्रमुख हैं।

मंगलाप्रसाद पुरस्कार :

बारह सौ रुपयों का यह पुरस्कार हिन्दी की किसी भी सर्वश्रेष्ठ मौलिक रचना पर दिया जाता है। इसका निर्णय स्थायी समिति करती है। पारितोषिक के लिये काव्य, निबंध, इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, तात्विक विज्ञान और व्यावहारिक विज्ञान-विषय हैं। इस पुरस्कार का प्रारम्भ सन् १९१४ से हुआ। यह सम्मेलन के वार्षिक उत्सव पर प्रति वर्ष दिया जाता है।

सेकसरिया महिला पुरस्कार :

यह पुरस्कार भी प्रति वर्ष दिया जाता है। यह महिलाओं द्वारा रचित हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के लिये है। इसका प्रारम्भ सन् १९३१ से हुआ। इसके विजेता का निर्णय पांच सदस्यों की एक समिति करती है।

श्री राधामोहन गोकुल जी पुरस्कार :

यह पुरस्कार दो सौ पचास रुपयों का है और प्रतिवर्ष दिया जाता

है। यह सन् १९३७ से समाज सुधार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक के लिये निर्धारित है।

इन पुरस्कारों ने मौलिक साहित्य की सृष्टि को प्रेरणा दी है, नवीन विद्वानों को प्रोत्साहन दिया है तथा हिन्दी साहित्य के संवर्द्धन में योग दिया है।

साहित्य सम्मेलनों का आयोजन तथा जनपद सम्मेलनों की स्थापना :

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का नाम इसके प्रमुख उद्देश्य को लेकर रखा गया है। वह है हिन्दी साहित्यकारों का सम्मेलन। इस प्रमुख उद्देश्य को लेकर प्रति वर्ष एक उत्सव मनाया जाता है, जिसमें हिन्दी के सभी प्रेमी तथा साहित्यकार एकत्र होते हैं एवं हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिये विचार-विमर्श करते हैं तथा आगामी वर्ष के लिये कार्यक्रम बनाते हैं। इसके अतिरिक्त तीन-चार दिन तक साहित्यिक समारोह होते हैं, जिसमें विद्वान् विद्वत्तापूर्ण निबन्ध पढ़ते हैं तथा हिन्दी साहित्य की प्रगति पर अपने विचार प्रकट करते हैं। इन वार्षिक अधिवेशनों में आज तक नागरी वर्णमाला, परीक्षाओं की योजना, प्रचार सभाओं की स्थापना, पुरस्कारों की व्यवस्था, हिन्दी की लिपि, व्याकरण सुधार, साहित्य शोध, सम्पादन, प्रकाशन और साहित्यकारों की दशा में सुधार तक के प्रश्नों पर विचार-विमर्श हुआ है। इसी प्रकार प्रति वर्ष साहित्यकार मिल कर साहित्य की वृद्धि एवं हिन्दी प्रचार के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विनिमय करते रहे हैं। इससे भी मुख्य बात है इन अधिवेशनों का साहित्यिक कार्यक्रम, जिसमें श्रेष्ठ विद्वानों की कविताओं का पाठ होता है, ललित उपयोगी, व्यावहारिक तथा आलोचना संबंधी निबंध पढ़े जाते हैं जिससे साहित्य के भण्डार में तो वृद्धि होती ही है, और उसकी वार्षिक प्रगति पर भी विचार-विमर्श हो जाता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्यकारों के सम्मेलन के इन वार्षिक

अधिवेशनों ने हिन्दी–साहित्य–जगत में क्रान्ति उत्पन्न करदी है। इन अधिवेशनों से प्रोत्साहित होकर अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ है और आज देश के कोने-कोने में साहित्य सम्मेलन से संबंधित संस्थाएँ हैं।

इन संस्थाओं को सुसंबद्ध तथा सुदृढ़ बनाने के लिये सन् १९२० में प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन का उद्घाटन हुआ। बीच में इसका कार्य विपरीत परिस्थितियों के कारण सक्रिय नहीं रहा किन्तु श्री नारायण चतुर्वेदी के प्रयासों से इसमें फिर सक्रियता आ गई है। प्रान्तीय सम्मेलनों ने कार्य सुगमता के लिये अपने-अपने प्रान्तों में जनपद सम्मेलन स्थापित किये हैं, जिनके द्वारा हिन्दी प्रचार तो होगा ही, अन्य समस्त भारतीय भाषाओं और उनके साहित्यकारों से भी संबंध घनिष्ठ हो सकेगा। प्रान्तीय सम्मेलनों ने राजदूतावासों के सांस्कृतिक विभागों से सम्पर्क स्थापित कर विदेशों में हिन्दी के अध्ययन अध्यापन की स्थिति का पता लगाया और उसकी उन्नति के साधनों की योजना बनाई। इन प्रान्तीय तथा जनपद सम्मेलनों ने प्रान्तों और विदेशों में हिन्दी प्रचार सुलभ किया तथा सम्मेलन के प्रचार विभाग ने अपने आयोजनों पर प्रेस कान्फरेंसों द्वारा प्रकाश डाला।

इन सम्मेलनों ने अपने-अपने प्रान्तों में न्यायालयों और दफ्तरों में हिन्दी प्रचार की योजना बनायी और इसके लिये प्रयत्न किया है। जनपदों ने विभिन्न विद्याओं संबंधी शब्द संकलन की योजना बनायी है जिससे भाषा विज्ञान और कोश साहित्य की उन्नति होगी।

प्रत्येक बड़े शहर में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण तथा प्रत्येक छोटे गाँव में अज्ञानता के कारण साहित्यिक वातावरण का अभाव-सा है। इन जनपद-सम्मेलनों की स्थापना से सभी कार्यशील संस्थाएँ और साहित्यिक गोष्ठियाँ इनके सहयोग और संरक्षण से कार्य करने लगी हैं। फलस्वरूप प्रत्येक प्रान्त के पत्रकार, लेखक, कवि, प्रकाशक, अध्यापक तथा हिन्दी प्रेमियों का संघठन हुआ और उनमें साहित्यिक एकसूत्रता

स्थापित हुई। जनपद सम्मेलनों में पुस्तकालयों और वाचनालयों की व्यवस्था हुई जिससे भी साहित्य का प्रचार और प्रेम बढ़ा, तथा इन प्रान्तीय सम्मेलनों के प्रयत्नों से ही अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थ हिन्दी में अनूदित हो रहे हैं।

इन प्रान्तीय सम्मेलनों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है—रेडियो की भाषा में सुधार। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप "रेडियो की भाषा–नीति" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। आज रेडियो विभाग अपने साहित्यिक दायित्व को निभाने में पूर्ण रूप से सतर्क है। न जाने कितने उच्चकोटि के नाटक, कहानी, कविता, निबन्ध आदि लिखवा कर रेडियो ने हिन्दी साहित्य के प्रचार और प्रगति में योग दिया है। साहित्य के नये रूपों के प्रसार एवं नये पुराने लेखकों और कवियों को प्रकाश में लाने का बहुत कुछ श्रेय रेडियो को ही है। इस प्रकार सम्मेलन ने रेडियो की भाषा नीति में सुधार कर हिन्दी गद्य के भाषा सौंदर्य की वृद्धि में योग दिया है।

सांस्कृतिक उत्सवों का आयोजन :

इन वार्षिक उत्सवों के अतिरिक्त विभिन्न साहित्यकारों के सम्मान में जयंतियाँ मनायी जाती हैं तथा अन्य सांस्कृतिक समारोह होते हैं। इस प्रकार के समारोह से हिन्दी के प्रति अन्य भाषा-भाषियों का भी आकर्षण बढ़ता है।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा तथा दक्षिणी हिन्दी प्रचार सभा सम्मेलन की ही प्रेरणा और उसके प्रयत्नों से स्थापित होने वाली दो संस्थाएँ हैं, जो प्रारम्भ में सम्मेलन के प्रबन्ध में ही कार्य करती रहीं और बाद में शक्ति और सामर्थ्य पाने पर स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगी हैं। ये संस्थाएँ भी पूर्ण मनोयोग से हिन्दी की उन्नति के लिये प्रयत्न कर रही हैं।

: ३ :

राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा

सम्मेलन के प्रयत्नों से और महात्मा गांधी (१९१८ में आठवें अधिवेशन के सभापति) की प्रेरणा से आसाम, बंगाल, उत्कल, महाराष्ट्र, गुजरात, बंबई, सिन्ध आदि अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी भाषा का प्रचार करने के लिये सम्मेलन के प्रबन्ध में ही दो संस्थाओं का जन्म हुआ। बाद में ये संस्थाएँ शक्ति और सामर्थ्य पाने पर स्वतंत्र रूप से पूर्ण मनोयोग से हिन्दी की उन्नति के लिये कार्य करने लगीं।

दक्षिणि भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना तो १९१८ में ही हो गई थी लेकिन राष्ट्र भाषा हिन्दी प्रचार समिति की स्थापना ४ जुलाई सन् १९३६ में सम्मेलन के अन्तर्गत हुई। इस सभा के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: हिन्दी प्रचार कार्य जिसके अन्तर्गत परीक्षाओं की व्यवस्था तथा अध्ययन केन्द्र आते हैं, और हिन्दी निर्माण कार्य जिसके अन्तर्गत साहित्य का प्रकाशन आता है।

हिन्दी प्रचार कार्य :

राष्ट्र भाषा प्रचार समिति की स्थापना से पहले भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा नागरी–प्रचारिणी सभा हिन्दी भाषा के प्रचार के लिये प्रयास कर रही थी, जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

परीक्षाओं की प्रेरणा :

राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा ने परीक्षाओं की व्यवस्था की है जिनका प्रबन्ध सम्मेलन द्वारा होता था, लेकिन अब स्वयं समिति ने सँभाल लिया है। इसकी पहली तथा दूसरी परीक्षा (राष्ट्र भाषा प्रवेश तथा राष्ट्र भाषा परिचय) तो गद्य–वैभव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु तीसरी परीक्षा कोविद उच्च स्तर की है इसमें गद्य-पद्य और निबन्ध प्रश्नपत्र होते हैं। हिन्दी परीक्षा के लिये जो पुस्तकें लिखी गयी हैं वे उच्च के स्तर के लेखकों द्वारा सरल हिन्दी में लिखायी गयी हैं। राष्ट्र भाषा रत्न परीक्षा १९४१ में प्रारम्भ हुई। ये अहिन्दी भाषी प्रदेशों के जिज्ञासुओं को साहित्यिक हिन्दी का ज्ञान कराने के लिये रखी गयी। परिणामस्वरूप पाठन-पठन के लिये जो ग्रन्थ रचे गये उनमें विषय की विविधता तथा साँस्कृतिक विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया जिससे अहिन्दी भाषी भारतीय जनता भी हिन्दी गद्य तथा पद्य के वैभव से परिचित हो सके।

अन्य भाषा-भाषियों ने हिन्दी सीख कर अपनी भाषा का हिन्दी गद्य में अनुवाद किया जिससे हिन्दी–गद्य लेखक अन्य प्रान्तों की साहित्यिक विशेषताओं से परिचित हुए। इसमें अधिकांश रूप से कथा साहित्य, जीवनी और नाटक हैं। आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे गये। यह राष्ट्र भाषा समिति का प्रभाव है कि आज का 'भारतीय साहित्य' जैसी पुस्तकों का प्रकाशन हो सका। इसमें सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का परिचय है। भावनगर, काठियावाड़, पूना सभी देशों में समिति द्वारा खोले गये केन्द्रों का एक ही लक्ष्य था, राष्ट्र भाषा हिन्दी का वैभवशाली रूप अन्य भाषा-भाषियों के सम्मुख रखना।

सूरत के राष्ट्रभाषा प्रचार मण्डल ने कोविद परीक्षा उत्तीर्ण युवकों की 'राष्ट्र भाषा कोविद मण्डल' नाम की एक संस्था स्थापित की। यह संस्था समय-समय पर विद्वानों के व्याख्यान तथा साहित्यिक वार्तालाप की आयोजना किया करती है। इस संस्था की ओर से समय–समय पर

काका साहेब कालेलकर, श्री गंगाशंकर पण्ड्या, श्री रामेश्वर दयाल दुबे इत्यादि विद्वानों के वार्तालाप हुए हैं। इस प्रकार इन संस्थाओं ने विभिन्न साहित्यिक गोष्ठी, भाषण तथा ग्रन्थों के निर्माण के द्वारा हिन्दी गद्य एवं साहित्य को समृद्धशाली बनाया है।

साहित्य निर्माण :

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से दो प्रकार का साहित्य प्रकाशित हो रहा है: प्रथम प्रकार का साहित्य वह है जो अहिन्दी भाषी प्रदेशों के परीक्षार्थियों के लिये पाठ्य पुस्तकों के रूप में तैयार किया जा रहा है। इसमें सभी प्रान्तीयभाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य का हिन्दी रूपान्तर किया गया है तथा इन भाषाओं के साहित्य का इतिहास है। दूसरे प्रकार का साहित्य वह है जो विभिन्न प्रान्तों की विचार–सम्पत्ति का उपयोग कर मौलिक रूप में लिखा गया है अथवा प्रान्तीय साहित्य से अनूदित किया गया है। इससे अहिन्दी–भाषी ही नहीं, हिन्दी–भाषी भी लाभान्वित हुए हैं। हिन्दी साहित्य प्रान्तीय साहित्य की प्रवृत्तियों, विशेषताओं और शैलियों से परिचित हुआ है। राष्ट्रभाषा अध्ययन तथा प्रचार सम्बन्धी साहित्य-निर्माण करने के लिये कोश–स्वबोधिनी अनुवादमाला तैयार की जा रही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के साहित्यकारों ने भी सभा की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य का सृजन किया है। किशोरीलाल मशरूवाला, काका कालेलकर, महादेव भाई, इन्द्रवसावड़ा तथा कन्हैयालाल मुंशी ऐसे साहित्यकारों में से हैं। महात्मा गांधी ने भी साहित्य सृजन कर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को सक्रिय रूप से सहयोग दिया है।

इस समिति की प्रेरणा से लिखे गये साहित्य में विषय–चरखा, खादी, अछूतोद्धार, किसान, मजदूर, देहाती जीवन, स्वास्थ्य, सेवा, श्रम का महत्त्व इत्यादि हैं। गांधीजी और उनके सहयोगियों ने इन्हीं विषयों पर लिखा है। काका कालेलकर ने भी हिन्दी में बहुत से उपयोगी निबन्ध लिखे हैं जो अधिकतर राष्ट्रभाषा पत्रिका में प्रकाशित होते रहे हैं।

पत्रिका प्रकाशन :

समिति की ओर से 'राष्ट्र भाषा पत्रिका' प्रकाशित होती है, जिसमें सभी प्रकार के विषयों को लेकर सरल हिन्दी में लेख लिखे जाते हैं।

अन्य संस्थायें :

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अतिरिक्त गुजरात में हिन्दी प्रचार करने वाली अन्य संस्थायें भी हैं, जिनमें महिला वर्धा आश्रम (जिसमें छः साल का पाठ्यक्रम है), हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद हिन्दी प्रचार समिति, राजकोट, बंबई विद्यापीठ इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

: ४ :

दक्षिणी भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की तरह ही साहित्य सम्मेलन ने सन् १९१८ के इन्दौर अधिवेशन में महात्मा गांधी के सभापतित्व में हिन्दी–प्रचार सभा, मद्रास, को जन्म दिया। सन् १९२७ तक इसका कार्य सम्मेलन के निरीक्षण में चलता रहा। इसके बाद से यह संस्था स्वतन्त्र रूप से दक्षिणी भारत में अपने साहित्य, विद्यालय और परीक्षाओं के द्वारा प्रतिवर्ष हिन्दी के प्रति प्रेम और रुचि का परिवर्धन कर रही है।

साहित्य प्रकाशन :

सभा द्वारा आयोजित इन परीक्षाओं और प्रचार के फलस्वरूप प्रान्तीय विद्वानों तथा हिन्दी साहित्य दोनों को ही लाभ हुआ। दक्षिण में संस्कृत साहित्य के विद्वान अधिक हैं। हिन्दी जानने से पहले ये विद्वान संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अपनी प्रान्तीय भाषाओं की लिपियों में करते थे। अब संस्कृत साहित्य का प्रकाशन हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि में भी होने लगा है।

पहले इन विद्वानों की प्रतिभा प्रान्तों तक ही सीमित रह जाती थी। अब इनके साहित्य के हिन्दी अनुवाद का प्रबन्ध सभा द्वारा हो रहा है। फलतः इनकी प्रतिभा से पूरा राष्ट्र परिचित होता है, और साथ ही हिन्दी गद्य साहित्य का भी संबर्धन होता है।

इस प्रकार सम्मेलन तथा सम्मेलन की सहायक संस्थाओं ने हिन्दी साहित्य के निर्माण, प्रचार और प्रकाशन में योग दिया और हिन्दी को विषय–विस्तार, वैचित्र्य, शैली की अनेक–रूपता, दृष्टिकोण की विशदता तथा विचारधाराओं की विभिन्नता से सम्पन्न कर, प्रतिभाशाली विद्वानों की खोज कर हिन्दी गद्य को वैभवशाली होने में सहायता पहुँचाई है।

: ५ :

हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग

हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग :

हिन्दी साहित्य को प्रोत्साहन देने वाली चौथी उल्लेखनीय संस्था है हिन्दुस्तानी अकादमी। उत्तर प्रदेश की इस संस्था की स्थापना २९ मार्च, सन् १९२७ में वहाँ के गवर्नर विलियम मॉरिस द्वारा लखनऊ में हुई, लेकिन इसका कार्यालय प्रारम्भ से ही प्रयाग में रहा। हिन्दी साहित्य के विभिन्न विषयों के मान्य विद्वान् इसके सदस्य रहे हैं।[1] स्थापना के समय यह संस्था सरकार से आर्थिक सहायता लेती थी और स्वतन्त्र नहीं थी। बाद में जब राजेश्वर बली इसके अध्यक्ष हुए तो उन्होंने इसे स्वतन्त्र संस्था घोषित किया। सन् १९४७ से पहले सरकार द्वारा धन प्राप्त हिन्दी और उर्दू पर समान रूप से व्यय होता था, इसके पश्चात् ८० प्रतिशत हिन्दी पर २० प्रतिशत उर्दू पर व्यय होने लगा।

इस संस्था का उद्देश्य हिन्दी और उर्दू साहित्य के मौलिक ग्रन्थों के निर्माण और अनुवादों से हिन्दी साहित्य का संवर्धन करना, पुरस्कारों

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, ब्रजेश्वर वर्मा, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय इत्यादि इलाहबाद के लगभग सभी प्रमुख विद्वान् इस अकादमी के सदस्य हैं।

द्वारा दोनों भाषाओं के साहित्यकारों को प्रोत्साहित करना, साहित्यिक जागृति के लिये व्याख्यानों का आयोजन करना तथा जिज्ञासुओं की सुविधा के लिये पुस्तकालयों की स्थापना करना रहा है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अकादमी ने अपना कार्यक्रम निम्नलिखित क्षेत्रों में विभाजित किया है—

(१) व्याख्यानमालाओं का आयोजन तथा उनका पुस्तक रूप में प्रकाशन।
(२) साहित्यिक अधिवेशनों का आयोजन।
(३) पुरस्कारों की व्यवस्था।
(४) प्रकाशन।
   (क) मुख्य पत्रिका का प्रकाशन।
   (ख) हिन्दी उर्दू की पुस्तकों का प्रकाशन।
   (ग) संकलन तथा अनुवाद।
(५) पुस्तकालयों की स्थापना।

(१) व्याख्यानमालाओं का आयोजन :

हिन्दी साहित्य के विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड पण्डितों को बुलाकर हिन्दुस्तानी अकादमी ने व्याख्यानों की आयोजना की। फलस्वरूप हिन्दी प्रेमियों को सभी विषयों के उच्च कोटि के विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों से अवगत होने का अवसर प्राप्त हुआ तथा हिन्दी प्रेमियों को साहित्यकारों के सम्पर्क से हिन्दी साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा मिली। अकादमी ने अनेक व्याख्यानमालाओं का प्रबन्ध किया है। इनमें से सन् १९५४ तक १० व्याख्यानमालाएँ प्रस्तुत रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें सभी व्याख्यान बड़े बड़े विद्वानों द्वारा दिये गये हैं। इन व्याख्यानमालाओं में लिखे जाने वाले लेख हैं—"मध्यकालीन भारतीय संस्कृति," "कवि रहस्य," हिन्दू सभ्यता पर मुसलमानों का

प्रभाव, "दर्शन का प्रयोग," हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, "भारतीय चित्रकला" आदि। इन व्याख्यानमालाओं के अन्तर्गत पढ़े जाने वाले निबन्धों ने हिन्दी गद्य के क्षेत्र में गहन गम्भीर साहित्य की वृद्धि की है तथा हिन्दी और उर्दू दोनों प्रकार के साहित्य को प्रोत्साहित किया है।

(२) साहित्यिक अधिवेशन :

हिन्दुस्तानी अकादमी का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है साहित्यिक अधिवेशनों का आयोजन। ऐसे ६ अधिवेशनों का आयोजन हुआ है। इनमें विभिन्न विद्यालयों के प्रतिनिधि हिन्दी और उर्दू के प्राय: सभी साहित्यकार सम्मिलित होते रहे हैं।

(३) पुरस्कारों की व्यवस्था :

हिन्दुस्तानी अकादमी ने हिन्दी और उर्दू दोनों विषयों के साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने के लिये पुरस्कारों की व्यवस्था की है। विभिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर ५०० रुपयों का पुरस्कार प्रतिवर्ष दिया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त दो रचनाओं पर १२–१२ सौ के पुरस्कार दिये जाते हैं। प्रारम्भ में १००–१०० रुपये वाले ८ पुरस्कार विद्यार्थियों को प्रोत्साहन के लिये अलग रखे गये थे।

---

१. (अ) पुरस्कृत होने वाली पुस्तकें—
रंगभूमि, गंगावतरण, तर्क शास्त्र, मानव शरीर रहस्य, स्वप्न, स्कन्दगुप्त, हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल), परख, साकेत, तुलसी के चार दल, बाणभट्ट की आत्मकथा।

(ब) पुरस्कृत होने वाले निबन्ध—
विनय पत्रिका का स्वरूप निर्माण, अर्जुन की उग्र साधना, कर्त्तव्य, रामचरित मानस का कथा भाग।

(४) साहित्य प्रकाशन :

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी अकादमी का मुख्य कार्य है, साहित्य का प्रकाशन, इस कार्य में अकादमी को बड़ी सफलता मिली है। यह संस्था एक शुद्ध साहित्यिक संस्था है, अत: यह हिन्दी उर्दू दोनों की श्रेष्ठ साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन करती है। यहाँ व्यावसायिक दृष्टिकोण के लिये गुंजाइश न होने के कारण अकादमी के सभी प्रकाशन साहित्यिक दृष्टि से गंभीर तथा ठोस हैं। इस संस्था ने कुल १२१ पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिनमें ७२ हिन्दी की और ४५ उर्दू की हैं। इनमें ललित, उपयोगी, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक शास्त्रीय दार्शनिक— सभी प्रकार के विषयों की दोनों भाषाओं की पुस्तकें छपी हैं।[1]

संग्रह तथा संकलन

अकादमी द्वारा छपाई गई पुस्तकों में मौलिक तथा अनूदित पुस्तकों के अतिरिक्त, संग्रह तथा संकलन भी हैं। कोश निर्माण तथा शब्द संकलन कार्य भी अकादमी कर रही है। प्राचीन साहित्य में

---

१. 'भारत साप्ताहिक,' रविवार ७ फरवरी, सन् १९५७
हिन्दी—७६ : काव्य प्राचीन १२, काव्य नवीन १, नाटक (मौलिक) १, नाटक (अनूदित) ६, समीक्षा ४, साहित्यिक इतिहास ४, साहित्यिक जीवन ७, भाषा शास्त्र ५, लोक साहित्य १, सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास ६, इतिहास तथा ऐतिहासिक जीवन ७, स्थानीय इतिहास ३७, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र तथा 'बसुबंधु का अभिकोश'।
राजनीति ६। ललित कला ०, उपयोगी कला १, दर्शन तथा मनोविज्ञान ४, प्राणीशास्त्र १, भूगोल १, विज्ञान २, पुस्तक साहित्य २, उर्दू ४५, साहित्यिक संग्रह ८, साहित्यिक इतिहास २।

आये नामों का संदर्भ कोश लिखा गया है। अकादमी द्वारा प्रकाशित बृहत् तुलसी शब्दसागर उल्लेखनीय है।

प्राचीन भाषाओं से जो अनुवाद किये गये हैं उनमें आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा अनूदित "बसुबंधु का अभिकोश "उल्लेखनीय हैं।

मुख्य पत्रिका का प्रकाशन

अकादमी से "हिन्दुस्तानी" नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में निकलती थी। किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह बन्द हो गई। इसमें मौलिक, अनूदित तथा अनुसंधान एवं अनुशीलन सम्बन्धी सभी प्रकार के लेख रहते थे। शोध तथा समीक्षा की दृष्टि से इस पत्रिका का स्तर अति **उच्च** था। इसमें हिन्दी-उर्दू के श्रेष्ठ विद्वानों के लेख होते थे।

इसके अतिरिक्त अकादमी का एक पुस्तकालय है जिसमें हिन्दी तथा उर्दू विभागों में १०,००० ग्रन्थ हैं और जिसमें हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ चुने हुए ग्रन्थों का चयन हैं। इस पुस्तकालय से हिन्दी प्रेमियों को अध्ययन की सुविधा हो गई है।

हिन्दुस्तानी अकादमी एक ऐसी संस्था है जिसने शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण रख कर हिन्दी उर्दू दोनों के श्रेष्ठ साहित्य के संवर्धन का प्रयास किया है। हिन्दुस्तानी अकादमी की प्रगति ने बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् की स्थापना की प्रेरणा दी।

: ६ :

बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्

हिन्दी के राष्ट्र भाषा घोषित होने के बाद उसके हितैषियों पर गुरुतम उत्तरदायित्व आ पड़ा। राष्ट्र भाषा हिन्दी में उच्च कोटि के ग्रन्थों के अभाव का अनुभव सबको होने लगा। बिहार प्रारम्भ से ही साहित्यिक केन्द्रों के संरक्षक होने के गौरव का अधिकारी रहा है। आज हिन्दी को राष्ट्र भाषा के योग्य बनाने के कार्य में नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी अकादमी आदि संस्थायें पूर्ण मनोयोग के लगी हुई हैं। हिन्दी को समृद्ध बनाने के इस मंगलमय अनुष्ठान में योग देने के लिये बिहार में भी राष्ट्र भाषा परिषद् की स्थापना की आवश्यकता समझी जाने लगी और इस अभिप्राय से ११ अप्रेल सन् १९४७ के दिन बिहार विधान सभा ने एक प्रस्ताव पास किया [१]।

सन् १९४७ में विशिष्ट प्रस्ताव स्वीकृत होने पर भी, परिषद् की स्थापना के सम्बन्ध में सरकार अपने निर्णय की घोषणा १९४९ तक न कर सकी। इस प्रकार परिषद् का कार्यक्रम १९५०ई० के उत्तरार्द्ध में ही प्रारम्भ हो सका।

---

१ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, प्रथम वार्षिक कार्यक्रम विवरण पृष्ठ ३

इस परिषद् का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण बिहार राज्य है और इसका केन्द्र स्थान पटना है ।

परिषद् के उद्देश्य और कार्य

आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के संवर्धन, भारत की राष्ट्रभाषा तथा बिहार की राज्यभाषा हिन्दी में कला, विज्ञान एवं अन्य विषयों के मौलिक तथा उपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन और बिहार की प्रमुख बोलियों के अनुशीलन की समुचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की स्थापना हुई है । इनकी पूर्ति के लिये परिषद् की योजना इस प्रकार है–

(क) हिन्दी में लिखित विभिन्न विषयों के प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रणयन के लिये पुरस्कार देना ।

(ख) अन्य भाषाओं के महत्त्वपूर्ण साहित्यक और वैज्ञानिक ग्रन्थों के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करना तथा उसके प्रकाशन की व्यवस्था करना ।

(ग) साधारणत: बिहार की तथा विशेष अवस्था में राज्य सरकार की स्वीकृति से भारत के अन्य राज्यों की साहित्यिक संस्थाओं अथवा संपादन समितियों को आर्थिक सहायता देकर हिन्दी तथा बिहार की अन्य प्रचलित भाषाओं में मौलिक एवं अनूदित ग्रन्थों के प्रकाशन को प्रोत्साहन प्रदान करना ।

(घ) साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व के लोक साहित्य के संकलन और प्रकाशन का प्रबन्ध करना ।

(ङ) बिहार में प्रचलित विभिन्न बोलियों के साहित्यिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप तथा हिन्दी के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में अध्ययन को प्रोत्साहित करना ।

(च) विभिन्न विषयों के विशिष्ट विद्वानों को हिन्दी में ऐसे विषय पर भाषण करने तथा व्याख्यान देने के लिये आमंत्रित करना, जिनमें उन्होंने विशेषता प्राप्त की हो और उन भाषाओं तथा व्याख्यानों को सम्पादित कर ग्रंथाकार प्रकाशित करना।

(छ) महत्त्वपूर्ण प्राचीन हस्तलिखित पोथियों और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व की दुर्लभ प्रकाशित पुस्तकों के अन्वेषण तथा प्रकाशन की समुचित व्यवस्था करना और परिषद् के उद्देश्यों की सम्यक् सिद्धि के लिये अन्यान्य आवश्यक कार्य करना [१]।

परिषद् का कार्य संचालन सामान्य समिति तथा संचालक मंडल द्वारा होता है। इसमें प्रतिवर्ष अधिवेशन होता है और उसके विवरण छपते हैं। प्रथम वार्षिक अधिवेशन में गुजरात, महाराष्ट्र, उत्कल, तेलगू कन्नड़, केरल, बंगला, उर्दू आदि सभी साहित्यों के प्रतिनिधि बुलाये गये। इन प्रतिनिधियों ने अपने अपने साहित्यों के इतिहास पर प्रकाश डाला तथा आधुनिक साहित्य का परिचय दिया।

परिषद् की ओर से प्रतिवर्ष विशेषतः विद्वानों की भाषणमाला का भी आयोजन होता है। ये भाषण लिखित होते हैं। प्रथम वर्ष उदयनारायण तिवारी ने बिहारी बोलियों पर, महादेवी वर्मा ने साहित्य, कला और संस्कृति पर भाषाण दिये। १९५२ में हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, क्यूरेटर मोतीचन्द के भाषण हुए।

विश्वनाथप्रसाद के तत्त्वावधान में बिहारी बोलियों में जो अनुसंधान और लोक साहित्य संग्रह का काम हो रहा है, उसमें तीन हज़ार पारिभाषिक शब्द, ३४० पहेलियाँ, ९२ मुहावरे और कहावतें तथा १३५ लोकगीत संग्रहीत थे। इसी विभाग के विद्वान् भोजपुरी, मैथिली और मागधी का सामान्य कोश तैयार कर रहे हैं।

---

१. देखिये बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् की नियमावली, पृष्ठ १,२

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की देख-रेख में पुरानी हस्तलिखित पोथियों की खोज होती है। इनका विवरणात्मक परिचय साहित्य सम्मेलन के साहित्य में क्रमशः प्रकाशित होता है। सन् १९५२ तक २५६ पोथियाँ संग्रहालय में आ गई हैं। परिषद् ने एक पुस्तकालय की स्थापना की है। उसमें सन् १९५१ में ५८ विषय के १९९२ ग्रन्थ थे और ५४ प्रमुख पत्रिकायें आती थीं। इनकी फाइलों को पुस्तकालय में सुरक्षित रखा गया है।

मौलिक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये चार संस्थाओं को सहायता दी गई है (१) प्रयाग के साहित्यकार संसद् को बिहार के प्रमुख कलाकारों की विशिष्ट रचनाएँ प्रकाशित करने के लिये चार हज़ार (२) आरा नागरी-प्रचारिणी सभा को "मैथिल कोकिल विद्यापति और वैदिक शब्द कोश" नामक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये दो हज़ार (३) पटना कॉलेज की हिन्दी साहित्य परिषद् को मौलिक साहित्यिक निबन्धों के प्रकाशनार्थ पांच सौ, और (४) पूर्णिया ज़िला साहित्य सम्मेलन को पांच सौ रुपयों का अनुदान मिलता है।

यहाँ से उच्च कोटि के ग्रन्थ तैयार कराये जा रहे हैं। विश्व-धर्म दर्शन, डा० यदुवंशी का 'शैवमत', डा० देवसहाय त्रिवेदी का मौर्य-पूर्व बिहार का इतिहास निकल चुके हैं। 'दरियादास ग्रन्थावली', 'भोजपुरी बोली के ध्वन्यात्मक तत्त्व' 'ईख और चीन', 'गुप्तकालीन मुद्रा' आदि पर मौलिक ग्रन्थ तैयार कराये जा रहे हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी का ग्रन्थ-'हिन्दी साहित्य का आदि काल' यहीं से निकला है। श्री बल्देव उपाध्याय का 'भारतीय वाङ्मय में श्री राधा' इसी संस्था से प्रकाशित हुआ है। अब तो सभी प्रकार के खोजपूर्ण साहित्य ग्रन्थ यहाँ से प्रकाशित हो रहे हैं। डा० रामअवध द्विवेदी का 'साहित्य सिद्धांत' ऐसा ही ग्रन्थ है। इस प्रकार बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् बड़ी तत्परता से हिन्दी के उत्थान के कार्यों में व्यस्त है।

निष्कर्ष :

इन प्रमुख संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाएँ और सभाएँ भी स्वतन्त्र रूप से काम कर रही हैं, और इन सबने हिन्दी–भाषी और अहिन्दी–भाषी जनता में साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित कर हिन्दी–गद्य की साहित्यिक समृद्धि में सहायता दी। इनके द्वारा अहिन्दी–भाषी जनता मे हिन्दी भाषा का प्रचार हुआ और अन्य भाषा-भाषियों के सम्पर्क से हिन्दी साहित्य को उनकी विचार सम्पत्ति, भाषा-गत विशेषताएँ तथा कलात्मक ऐश्वर्य से लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त हुआ। अहिन्दी–भाषी प्रदेशों की हिन्दी जानने वाली जनता ने अपने श्रेष्ठ साहित्य का हिन्दी में अनुवाद किया तथा हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्य का प्रचार अपने प्रान्तों में किया। इस प्रकार इन संस्थाओं द्वारा जो साहित्यिक आदान प्रदान हुआ उससे हिन्दी का क्षेत्र बढ़ा और उसे व्यापकता प्राप्त हुई जिससें वह राष्ट्रभाषा का सम्माननीय पद प्राप्त कर सकी।

इन संस्थाओं ने विभिन्न सांस्कृतिक सम्मेलनों द्वारा देश की विभिन्न प्रान्तीय संस्कृति को एक रूप देकर हिन्दी भाषा में सुरक्षित किया, जिससे हिन्दी भाषा को सांस्कृतिक विचार–धारा के वहन का गौरव प्राप्त हुआ। इन संस्थाओं ने जो विविध विषयों का साहित्य प्रकाशित किया है उससे हिन्दी भाषा और साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति हुई और सांस्कृतिक विचार–धारा के प्रसारित होने का क्षेत्र प्रस्तुत हुआ तथा साहित्य सृजन के साधन का मार्ग प्रस्तुत हुआ।

हिन्दी–साहित्य की शुभाकांक्षी इन संस्थाओं ने ५०,६० वर्षों के अल्प समय में ही अनूदित, मौलिक तथा खोज से प्राप्त साहित्य के प्रकाशन से हिन्दी–साहित्य के भण्डार को विषय, विचार, भाव, भाषाशैली और भाषा की दृष्टि से श्री सम्पन्न कर दिया।